

UNIVERSAL  
LIBRARY

**OU\_186334**

UNIVERSAL  
LIBRARY



**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. **H83**  
**S53 Sh**

Accession No. **G.H. 2022**

Author **शर्मा, पाण्डेय वेंचन**

Title **इरावती 1954**

This book should be returned on or before the date last marked below.



## माता पिता से

“वाह, क्या खूब ! एक बिलकुल अपरिचित व्यक्ति हमें यह बतलाने आया है कि हम अपने बच्चों के साथ कैसा सलूक कर ! मैं तो लोगों की इस किस्म की बिनमांगी नसीहत को सुनते-सुनते थक गई हूँ। मुझे अच्छी तरह मालूम है जब मेरी मां ने मुझे पाला-पोसा था तो इसके लिए उसने कोई किताबें नहीं पढ़ी थीं। बल्कि प्रत्येक मां को कुदरत ने जो मामूली समझ-बूझ दी हुई है उसी का उसने आसरा लिया था।”

हमारी माताएं इसी तरह का जवाब देंगी, जब उन्हें इस पुस्तक को पढ़ने के लिए कहा जायगा।

इसलिए मैं आरम्भ ही में आपको बतला दूँ कि आपको क्यों इस किताब को पढ़ने की जरूरत है।

१. आम तौर पर लोग “कुदरत की दी हुई मामूली समझ-बूझ” का अभिप्राय वही समझते हैं जैसा सब लोग करते चले आये हैं। क्योंकि हर कोई पुरानी परम्परा से खूब बाकिफ होता है, और बिना सोचे-समझे बड़े-बूढ़ों की राह पर चलते रहना हर किसी को बहुत सहल लगता है।
२. हम बच्चों का सारा भविष्य उनके संजोग या भाग्य के आसरे नहीं छोड़ सकते। हम एक ऐसे जमाने में रह रहे हैं जहाँ हमारी नसों या ज्ञान-तंतुओं पर इतना अधिक

**प्रकाशक**

**रामबाल पुरी**

**आत्माराम एण्ड संस**

**काश्मीरी गेट, दिल्ली-६**

**तीसरा संस्करण, १९५४**  
**मूल्य तीन रुपये आठ आने**

**मुद्रक**

**अमरजीतसिंह नलवा**

**सागर प्रेस**

**काश्मीरी गेट, दिल्ली-६**

## पात्र-परिचय

### मानिक

उपन्यास का तरुण नायक । पहले बिगड़कर फिर  
नायिका के प्रभाव से सँवरने वाला...

### जवाहर

उपन्यास की नायिका । भले परिवार से वेश्या के कोठे तक  
पहुँचने पर भी अन्त में बड़ी भली...

### हौरा

असफल प्रेम करने वाली सामाजिक निर्दयता का  
शिकार बेचारी...

### पारस

नायिका का शराब से खराब मगर नेक-दिल पिता...

### कुन्दन

एक बूढ़ी मगर दिल-फेंक विचित्र बेइया...

### पन्नालाल

नायक का कड़ा-मिजाज कानून-पेशा पिता...

‘उग्र’-लिखित पुस्तकें प्रेस में

कला का पुरस्कार

(१२ विचित्र कहानियाँ)

फुलभङ्गी

(तेजस्वी गद्य-काव्य, सचित्र)

‘उग्र’-उवाच

(गान्धी जी के निधन के बाद लिखे गये अनेक अद्भुत लेख)

दिल्ली के लड्डू

(आधुनिक और विचित्र राजनीतिक उपन्यास)

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

# शराबी

१

जवाहर उसी छोकरी का नाम है, जो कला की दृष्टि से विचित्र सुनी जाती है, वह अधिक-से-अधिक सत्रह साल, कुछ महीने और कुछ दिनों की होगी। साथ ही, लोग यह भी कहते हैं, कि एकाएक सामने आने पर, या परिचय कम होने पर, वह ठीक छोकरी-सी मालूम पड़ती है।

लोग ही नहीं, रतनपुर की लुगाइयाँ भी, आये दिन, उसके बारे में कुछ-न-कुछ कहा-सुना करती हैं; मगर 'लोगों' की धारणा जवाहर के बारे में जैसी है, 'लुगाइयों' की उसके बिलकुल विपरीत है।

वे उसे 'कलमुहीं' कहती हैं और जो पुरुष जवाहर के पास आता-जाता है, उसका मुँह—रतनपुर के कलकटर मिस्टर उड-सा गौरा होने पर भी—उन्हें 'काला' नज़र आता है। जभी किसी मुहल्ले की चन्द सासों या पतोहुएँ एकत्र होती हैं, तभी उसी कलमुहीं की चर्चा होने लगती है।

'वह डायन है, डायन।'—बूढ़ियाँ घृणा से मुख की मुरियाँ सिकोड़ती हुई कहती हैं—'शहर के कितने गुलाबी बच्चों का रक्त वह पी चुकी है, पी रही है। न जाने क्यों भलेमामुस लोग ऐसी ढाकिनियों को अपने बीच पनपने देते हैं।'।

'ऐसी चमकीली चुड़ैल !'—घाट पर, बाट में या दोपहर-शाम को अपने-अपने दरवाजों पर खड़ी होकर पति-वश्रिता अभागिनियाँ कहती हैं—'उसकी जिस पर एक बार भी नज़र

पड़ती है, वह अपनी गृहस्थी की परी को भी भूल जाता है। वह टोना जानती है, वह जादू जानती है। ओह रे ! कहीं वह दिखाई पड़ जाय, तो भोंटा पकड़कर उसका मुँह नोच लिया जाय ।’

मगर, लोगों की राय कुछ और ही है। एक-दो अपवादों को छोड़ बाक़ी सभी बूढ़े-जवान, किसी-न-किसी ढंग से उसकी प्रशंसा ही करते हैं। सम्भव है, किसी अन्य शहर के सभी बूढ़े संगठित रूप से कोई सभा, समिति या संस्था स्थापित कर, प्रस्ताव पेश कर, पास कर, दुःख से दहलते या शोक से सिसकते हुए उस छोकरी के अस्तित्व का विरोध करते; मगर, रतनपुर के बूढ़े ऐसे नहीं। वे जवाहर-सी छोकरियों के प्रति इस तरह के विचार रखने वालों को ‘सूखा’ समझते हैं। यह ठीक है, जवानों की तरह वे मौक़े-बेमौक़े, सर पर पाँव रखे, उसकी गली की ओर दौड़ते नहीं नज़र आते; लेकिन, रामनवमी, कृष्णाष्टमी, दशहरा-दिवाली के दिन—बिना उसकी विशेषता की सहायता के—वे न तो राम को जान पाते हैं और न कृष्ण को। सच-सच-सच, वह जादूगरनी प्रत्येक पावन पर्व पर, परमात्मा के अङ्गों की देहलियों पर अपने जगते जादू की जोति जगमगाती देखी जाती है।

रतनपुर में चार-साढ़े-चार बजे दिन के बाद कोई घूमने निकले, आँखें ज़रा सतर्क रखकर नवयुवकों को निहारे और जिसके तन पर अढ़ी का कुरता, भीतर से भाँकती हुई जालीदार रेशमी गंजी, सोने के बटन, मखमली किनारे की मैचैस्टरी या रेशमी किनारे की मोहनी-‘मिली’ धोती, लखनौवा दुपलिया या छोटी फ़ैल्ट टोपी और वार्निश या पेटेण्ट-लैडर का पम्प-मुखी जोड़ा देखे और उनमें से कुछेक को किसी तमोली की दूकान पर या ओने-कोने में या जनसाधारण के वायु-सेवन की जगहों

में तल्लीन रूप से बातें करते पावे, तो फौरन, बिना हिचके यही समझ लेना चाहिये, कि वे जवाहर के बारे में बातें कर रहे हैं।

एक दिन की यह घटना बहुतों के दिमाग में बहुत दिनों तक ताज़ी रहेगी। चौमुहानी के पूरबी नुक्कड़ की पान की ऊँची दूकान पर दो नवयुवक और तमोली उसी झोकरी के बारे में पूछताछ कर रहे थे।

“कितनी दूर पर है वह गली, जिधर उसके मकान का पिछवाड़ा पड़ता है ?”

“ओ हो,”—तमोली ने कत्था-चूना से लाल पन-कपड़े पर छोटे-छोटे उजले पानों को नफ़ासत से पोंछते हुए कहा, “मालूम पड़ता है, आप लोग अभी कोठे पर नहीं पहुँच सके हैं। नहीं तो उसकी पीछेवाली गली जरूर जानते होते।”

“ठीक कहते हो,”—एक ने स्वीकार किया, “हम अभी वहाँ तक नहीं पहुँच सके हैं। तभी तो दरियाफ़्त कर रहे हैं। सुना है, आधा शहर उसके दरवाज़े पर टकराता फिरता है। इसी से और उधर भी जाने की हिम्मत नहीं पड़ी। कोई देख ले, इधर-उधर कुछ कह-सुन दे, तो हमारी जान की आफ़त आ जाय।”

“हम लोगों ने,”—दूसरे युवक ने कहा, “गत शिवरात्रि के दिन नर्मदेश्वर के मन्दिर में उसे गाते सुना था। ओह ! ख़ूब गाती है।”

“अच्छा,”—तमोली ने उत्साह से कहा, “आप लोगों ने केवल उसे गाते ही सुना है। अब एक बार, मेरे कहने से, नाचना भी देखिये। वह इस तरह नाचती है; जैसे भोरहरी की हवा में अलसी का फूल। जैसे राजा रामरूप के ऐशवारा में, उस बड़े तालाब में, रिम-फ़िम बरसते सावन में, छोटी-बड़ी लहरों पर, हंसिनी नाचा करती हैं।”

“सच !”

“हाँ, मालिक ! यह तो मशहूर बात है ।”

“तुम तो उसकी तारीफों के पुल बाँधे दे रहे हो ।”

“जो उसके करतब देखकर, उसके हुनर को परखकर, उसकी तारीफ न करे, वह या तो अंधा है, या उल्लू । हा-हा-हा-हा ! सच मानियेगा बाबू जी ।”—तमोली ने चार पान एक युवक के हाथ में भाव से दिये ।

“सुना है,”—उस युवक ने कहा जिसे अभी पान नहीं मिला था, “उसकी कोई माँ भी है ।”

“अजी वह माँ नहीं है,”—तमोली ने कथे की लकड़ी से पान पर गहरी कथई रेखा खींचते हुए कहा—“वह तो उस गली की बेकार और पुरानी पतुरिया है । नाक उसकी चपटी है, आँखें उसकी भीतर की ओर धँसी हुई । मुँह सिकुड़कर अध-सूखे, रोगी, बड़हर-सा हो गया है, कमर कमान की काकी बनी हुई है; मगर जवाहर को पाकर वह लोभ की मूरत बन गई है । अभी परसाल तक उसका कोई पुर्साहाल नहीं था । गली में इधर-उधर घूमकर वह कमजोर दिल दिलदारों को यहाँ या वहाँ पहुँचाने का वादा करती फिरती थी । कोई उसे बनाता था, कोई चिढ़ाता, कोई दुत्कारता; मगर क्रिस्मत उसकी जरूर चोखी है । तभी तो, इस गुजरे जमाने में यह जवाहर आसमान से, छप्पर से, उसके घर में फट पड़ी है ।”

कुछ और पूछ-ताड़कर दोनों युवक उसकी गली की ओर बढ़े । तमोली अपने दूसरे ‘बाबुओं’, ‘सरकारों’ या ‘मालिकों’ को तन्हाकत से पान बना-बनाकर देने और प्रायः सबसे जवाहर का विश्वास करने लगा । न तो लोग उसके बारे में पूछते हुए कहते थे और न वह तमोली थकता था उसकी तारीफ करते हुए ।

रात के ग्यारह बजते-बजते उधर से लौटे हुए कुछ पान-प्रेमियों ने उसे बताया कि जवाहर के घर पर पुलिस की पलटन कसी हुई है। वहाँ दो-दो खून हो गये हैं।

“कौन-कौन मारा गया ? किसने मारा ? क्यों मारा ?” आश्चर्य से, बिना सुपारी के ही पान लपेटते हुए, तमोली ने सम्वादवाहकों से पूछा—

“उसका कोई यार था ?”

“उसके हजार हैं।”

“कोई खास था, उसने नौकर रखा था ?”

“अच्छा।”

“आज जब वह आया तब जवाहर दो युवकों से किल-किल खेल खेल रही थी। उसका यार पीकर आया था।”

तमोली अफवाह सुनानेवाले का मुँह गुरेरता रहा।

“उसने जवाहर को पुकारा, वह नहीं गई। वह सीधे युवकों के और उसके सामने आ फटा। भागो यहाँ से—उसने नशे में कहा—यह तुम्हारी बहन नहीं, मेरी जान है, रखेली है। इसको जवाहर ने अपना अपमान माना। उसने नौकर को पुकारकर यार को बाहर निकाल देने को कहा।”

“अच्छा—अच्छा।”

“युवकों ने भी कहा—हमने रुपये दिये हैं। इतनी देर तक यहाँ बैठने का हमारा ठेका है। यह आपका घर नहीं, बाजार है। कुछ और भी बातें हुईं और धड़—धड़—धड़। जेब से पिस्तौल निकालकर उसने तीन फायर युवकों पर और एक जवाहर पर किया। साथ ही चिल्ल-पौं मचते-मचते नौ-दो ग्यारह भी हो गया। वह लखरामदास जो लखपती हैं, उनका लड़का था।”

दूसरे दिन ठीक-ठीक खबर रतनपुर वालों को मिली। युवक वही दोनों थे जो तमोली से पूछ-ताछ कर रहे थे। उनमें से एक

तो जहाँ का तहाँ बेदम हो गया, मगर दूसरा, कमर के ज़रा ऊपर, घायल होकर रह गया। जवाहर की भी दाहनी कलाई ज़ख्मी होकर बच गई। रात भर लखरामदास के घर और बाग़ में, उनके पुत्र की पुलिस ने ज़बरदस्त खोज की; मगर सुबह के पहले वह नहीं मिला।

शहर की दक्खिनी ओर नवाबी ज़माने का खण्डहर है। वहीं दूसरे दिन लखरामदास का लायक़ लाल मिला। पिस्तौल उसके हाथ में थी और जान उसके हाथ के बाहर।

उस दिन से जवाहर ज़िले भर में, कमिश्नरी भर में ही नहीं, बल्कि सूबे भर में मशहूर हो गई।

हीरा उन लुगाइयों में से एक का नाम है, जिनके पति-रत्न जादूगरनी जवाहर द्वारा लूट लिये गये हैं। यदि कहीं विधाता हों और उनका काम चराचर के कपाल में सुख-दुःख की रेखाएँ सँवारना हो, तो, निस्सन्देह, उन्होंने हीरा की रेखाएँ सजाने में कमाल किया है। वह बेचारी जब तक अनजान थी, कमसिन थी, अनखिली कली थी, तब तक भली-भली थी। उसके चारों ओर का संसार अपार प्यार से भरा था। उसके एक-एक बालिका-सुलभ, सादे, भृकुटि-विलास को पलकों पर ओढ़कर आनन्द लेनेवाले, एक नहीं, अनेक थे। उसकी माँ, उसकी भाभी, भाई, पिता। ओह ! उसको कौन नहीं प्यार करता था।

बचपन में उसके स्वभाव की जो विशेषता थी, वही जवानी में खराबी समझी जाने लगी। आरम्भ ही से वह आकर्षक और मिलनसार थी। पालतू, पढ़ी मैना की मधुर बोली-सी उसकी पिट-पिट बातें लोगों को रुचती थी। वह स्तूब बातूनी और निर्भय थी। उसके सर्वप्रिय स्वभाव का उदाहरण वह घटना है, जो उस समय की है, जब वह तीन बरस और कुछ महीने की थी। एक दिन प्रातःकाल पड़ोसी के लड़के के साथ—जिसकी उम्र उससे कुछ ही महीने अधिक थी—वह खेल रही थी। दोनों गली में बैठकर, चारों ओर की धूल अपने सामने इकट्ठी कर, चरौंदा बना रहे थे।

धूल के ढेर से, दोनों हथेलियों से, एक मोटी, भई, टेढ़ी-मेढ़ी रेखा अपने सामने खींचकर, उसे जरा चौकोर और ऊँचा बनाकर, पड़ोसी के लड़के ने कहा, “हूँ, हीरा ! यह मेरा महल है।”

उसी तरह और उससे भी अधिक मोटी और भई रेखा अपने

आगे सजाकर हीरा ने धूल में सनी रूखी और घनी लट को पीछे की ओर लापरवाही से फेंकते हुए कहा, “इसे देखो ! यह उस महल से बड़ा है, आ हा हा, कैसा बढ़िया है ! यह मेरा महल है ।”

लड़के ने स्वभाविक स्पर्द्धा से देखा, सचमुच हीरा के सामने अधिक धूल थी । उसका महल बड़ा था । पड़ोसी दूसरे पड़ोसी की इस मृण्मयी महानता को न सह सका ।

“मैं तेरा महल बिगाड़ दूँगा ।”—उसने बालावेश से कहा । साथ ही हाथ भी बढ़ाया ।

“मैं भी तेरा बिगाड़ दूँगी—हूँ, मैं किसी से कमजोर हूँ ? खबरदार ! इधर हाथ न बढ़ाना ।”

“क्या कर लेगी ?”

“ऐसा घूँसा मारूँगी कि चिल्लाता भाग खड़ा होगा ।”

“मैं अपनी माँ को पुकारूँगा ।”

“उसको भी मारूँगी, भोंटा पकड़कर ।”

“मैं बाबा को बुला लूँगा—तब ! वह तेरे कान पकड़कर तीन तमाचे जड़ देंगे । पें-पें चिल्लाने लगोगी ।”

“हूँ !” लीला से चमककर हीरा ने कहा, “मैं भाग जाऊँगी और दूर से ऐसा ढेला मारूँगी कि तेरे बाबा की खोपड़ी लाल-लाल हो जायगी ।”

“मैं तो बिगाड़ता हूँ तेरा महल, देखूँ क्या कर लेती है ? बायम !”—लड़के ने लात मारकर हीरा का महल धूल में मिला दिया । इस पर वह भी झपटी, उसका घर बिगाड़ने के लिए । लड़के ने हाथ बढ़ाकर विरोध रूप में उसका मुँह खरोंच लिया । वह भी भिड़ पड़ी, चढ़ बैठी उसकी छाती पर । खूब गुत्थमगुत्था हुआ । लड़के ने हीरा की गर्दन पर, खीझकर, अपने दाँतों से काले मिशान बना दिये और हीरा ने उसकी छाती पर अपनी

दँतुलियों का छाप दिया। हल्ला मचा। दोनों के नज़दीकी उन्हें सुलभाने के लिए दौड़ पड़े; लेकिन, शरीर से सुलभ जाने पर भी उनका मुँह तू-तू-मैं-मैं में उलझा ही रहा। लड़का अपनी माँ की गोद से बोला, “ठहर, डायन ! मैं घर में से डण्डा निकालकर तेरी खोपड़ी चूर-चूर किये देता हूँ।” अपनी माँ की बगल में अकड़कर खड़ी हीरा कहने लगी, “मैं अपने बाबा की तलवार लेकर आऊँगी—तब ? तब तेरा डण्डा क्या कर लेगा ? मैं तेरी गर्दन काट लूँगी, तेरी लाठी की गर्दन भी—कच-कच-कच से—काट दूँगी।”

लोगों की नज़र में वह जब तक ‘रतनपुर की लड़की’ रही, तब तक पड़ोसी का वह लड़का ही हीरा का सबसे प्यारा साथी था। तब तक वह सुखी और खिली भी खूब थी; लेकिन, जिस दिन से लोग उसे ‘रामपुर की वधू’ भी समझने लगे, उसी दिन से पड़ोसी के लड़के, हीरा और उनके सहज सुखों के बीच में रामपुर काले, मनहूस, परदे-सा—आ पड़ा। ब्याह की बातचीत चलते ही उसके पिट-पिट बोलने का विरोध होने लगा। पहले लोग उसे छेड़कर बोलवाते थे, अब ज़रा भी बोलने पर छेड़ने लगे। कभी उपदेश की कनेठी से उसके सरल स्वभाव के कान लाल करने और कभी तीखी नज़रों से उसके अलहद मन की छाती छीलने लगे।

उसकी माँ सूने में समझती—‘अरी मुझैसी, लड़कपन छोड़ ! चारों ओर झोंटा फैलाकर डाकना-कूदना बन्द कर और उससे—उससे—समझती है ?—हीही ठीठी भी रोक। अब तू दूसरे के घर जायगी। तेरा ऐसा ही मिजाज रहा, तो, वहाँ अपनी नाम-हँसाई होगी।”

माँ की इन बातों और लोगों के उपदेशों तथा विरोधों का हीरा पर असर ही नहीं पड़ा, यह ठीक नहीं। वह मन-ही-मन अपने

मन की रोक-थाम करने लगी। पर, यह काम उसे बहुत अस्वाभाविक एवं दुखद मालूम पड़ा। शायद वह विवाह नहीं चाहती थी, शायद 'रामपुर' शब्द भी उसे भयावना और क्रूर मालूम पड़ता था, शायद उसे बोलने और घूमने का यह परदा नामंजूर था।

विवाह होते-होते—धीरे-धीरे—उसने कम बोलने, मुँह पर हमेशा घूँघट रखने, आँचल सँभालने और धीरे-धीरे चलने का अभ्यास आरम्भ किया। अब पड़ोस के लड़के जब दरवाजे से पुकारते—‘हीरा !’ तो वह दूटकर घर से बाहर नहीं फट पड़ती। अब तो वह यहाँ तक नहीं बोलती कि—‘तुम जाओ, मैं न खेलूँगी।’

विवाह हो जाने के पन्द्रह दिनों बाद एक दिन हीरा चूनरी और विविध नये गहने पहने, पाँवों में लाल-लाल महावर लगाये, भ्रम-भ्रम करती हुई किसी के घर जा रही थी—अकेली और अनमनी। एकाएक पीछे से किसी ने उसकी दोनों आँखें बन्द कर लीं। वह भय से, प्रेम से, स्मरण से—न-जाने कैसे, न जाने क्यों—कण्टकित हो गई। वह समझ गई, आँखें मूँदनेवाला उसका प्रिय साथी वही पड़ोसी था।

“अब मुझे ऐसे न पकड़ा-छुआ करो, मानिक ! माँ मना करती हैं। भागो, जल्दी यहाँ से।”

माँ के मना करने का मतलब मानिक को शायद मालूम था। तभी तो, फौरन, हाथ खींचकर वह हीरा का मुँह ताकने लगा। हीरा की आँखें परीशान और मौन और सिमटी-सी थीं। उनमें वह प्राकृतिक असावधानी नहीं थी, जिसे अधिक-से-अधिक देखने के लिए मानिक सदैव सावधान रहा करता।

“इसमें कोई बात नहीं हीरा,”—वह धीरे से बोला, “महीने भर से तो तुम गली में कभी निकली ही नहीं। ओह, मैं रोज

तुम्हें ढूँढ़ा करता था। खूब अच्छी लगती है यह चूनर तुम्हारे तन पर हीरा ! और यह गहने—और यह महावर। ओहो हो, मैं लड़की न हुआ; नहीं तो, एक दिन जरूर तुम्हारे-सा सजता।”

कुन्दन के बारे में सभी जानते हैं, वह खानदानी वेश्या है। यद्यपि आज उसकी उम्र तीन बीस और आठ वर्ष की है; मगर, निस्सन्देह एक दिन वह तीन पाँच और तीन वर्ष की भी थी। जब वह अठारह वर्ष की थी, तब लोगों को 'कुन्दन' नाम की सार्थकता, उसके सामने आते ही, दिखाई पड़ती थी। आज तो दुनिया उसे कूड़े से भी कम समझती है।

जब कोई छेड़ भर दे उसके आगे वेश्याओं और उनकी विशेषताओं की चर्चा और फिर उसी के मुँह से उसकी खानदानी कहानी सुन ले। वह बतायेगी कि उसकी लकड़दादी की दादी शाहशाह अकबर के दरबार में नाचा करती थी। जहाँपनाह ने सूबा आगरा में उसे जागीरें, हाथी, घोड़े, पालकी और महल दिये थे। वह गाने की कला में ऐसी पटु थी कि मशहूर मियाँ तानसेन से अकसर उसकी तनातनी रहती थी।

अपनी लकड़दादी का नाम वह 'गुलाबी बेगम' बताती है, और बताती है कि बेगम की पदवी शाहशाह शाहजहाँ ने उसे दी थी। वह इतनी खूबसूरत और खुश-खसलत थी कि बादशाह सलामत सुलताना मुमताजमहल से कम उसकी खातिर नहीं करते थे। जब तक उनके मशहूर और पत्थर-दिल लड़के औरंगजेब ने उन्हें कैद नहीं कर लिया था, तब तक वह अकसर यही कहा करते थे कि मैं 'गुलाबी बेगम' की यादगार में भी कोई इमारत बनवाना चाहता हूँ। शाहशाह उनकी यादगार में काले पत्थर का 'ताज' काशी के सामने बहती हुई गंगा के उस पार बनवाने वाले थे।

अगर कोई पूछने वाला कुन्दन से पूछता है कि शाह शाहजहाँ

ने गुलाबी बेगम के काले ताज के लिए काशी को क्यों पसन्द किया था, तो वह गर्व से उत्तर देती थी—‘क्योंकि हम हिन्दू हैं। चित्रसेन के वंश के चमकते चिराग हैं। हमारी मुक्ति के लिए काशी और गंगा ही सर्वश्रेष्ठ स्थान हैं।’

मगर, अफ़सोस— वह कहती—आलमगीर बड़ा सूखा आदमी था। ‘आदमी’ इसलिए कहती हूँ कि भगवान् या खुदा ने न-जाने क्यों उसे आदमी का चोला दे रखा था। नहीं तो, जो सूखा हो—खासकर ताज़-तख़्तदार होने पर भी—वह तो कुछ भी नहीं है। जानवर भी नहीं। उसी ने मेरी लकड़दादी की दादी को—ज़हर खिलवाकर मरवा डाला था, और मेरी परदादी को भी।

‘चम्पाकली’ नामी अपनी परदादी की कहानी कुन्दन खूब सुनाती है। कहती है, गुलाबी बेगम की विष-हत्या के एक वर्ष बाद आलमगीर ने अठारह वर्ष की सुडौल पुतली चंपाकली को सूली पर लटकवा दिया। बात यों हुई—जामा मसजिद के उत्तर गुलाबी बेगम के महल में चंपाकली रहती थी। एक बार रोज़े के दिनों में, जुमा के दिन, रमज़ान की नमाज़ पढ़ने बादशाह सलामत उस मशहूर मसजिद में तशरीफ़ ले आये थे। उधर मसजिद में नमाज़ शुरू हुई, उधर परदादी चम्पाकली ने इसराज सँभालकर ‘पीलू’ का रियाज़ करना आरम्भ किया। वक्त था ‘श्यामकल्याण’ का और दादी मेरी पीलू का रियाज़ करने बैठी। उस्तादों ने राग-रागिनियों के लिए समय का जो बन्धन लगा रखा है, उस पर उनका विश्वास नहीं था। वह ६ बजे सुबह श्याम-कल्याण और ६ बजे शाम भैरवी गा ही नहीं सकती थी; बल्कि उसकी तस्वीर सुनने वालों के सामने खड़ी कर देती थी। शाहजहाँ के ज़माने में दरबारी उस्ताद नाक सिकोड़ते ही रहते और वह दोपहर की मजलिसों में विहाग और सोहनी और कालिङ्गवा

छेड़ देती। और छेड़ देती—इसराज के तारों के साथ-साथ—समझदारों की छाती की नसों को। वह मामूली चीज थोड़े ही थी।

मगर, उस जुमा के दिन उन्होंने पीलू क्या गाया, अपनी मौत को न्योता दे दिया। गाना भी कुछ ऐसा ही घातक था। उसी दिन से हमारे खानदान में, याद रहने पर भी, उस गीत को साज पर, जोर से, कोई गाता नहीं। उसका शुरू है—‘मैं उस पार चलूंगी आली, भाँझरि नाव नदी मतवाली।’ साढ़े पाँच बजे से आठ बजे रात तक वह इस गीत को गाती रहीं और तब तक शाहशाह के साथ हजारों नमाजी, बेहोश-से होकर, सामने खड़े मुल्ला के मुँह की आयतों को न सुनकर, परदादी के पीलू से पागल, बराबर उठते-बैठते और अपने खुदा के आगे कपार पटकते रहे। जब चम्पाकली का गला रुका, इसराज चुप हुआ, तब उन खुदापरस्तों को होश हुआ। आलमगीर ने अपने माथे का पसीना जो पोंछा, तो, उसमें सूजन मालूम हुई। वजह पूछने पर पता चला कि नमाज बहुत देर तक पढ़ी गई—ढाई घंटे तक ! जब इसके कारण की तलाश हुई, तो मालूम हुआ कि चम्पाकली बेगम गा रही थी और उसका गाना ऐसा होता है, कि दुनिया का बड़े-से-बड़ा ध्यानी भी अपने आपे को भूल जाता है।

इसके दूसरे ही दिन चम्पाकली को फाँसी हुई और आलमगीर ने यह फरमान जारी किया कि जो कोई भी आम जगहों के आसपास गाते-बजाते देखा-सुना जायगा, कानून उसके कुसूर का बदला उसकी गर्दन से लेगा।

चम्पाकली के बाद दो-चार दादियों की दास्तान और सुनाकर कुन्दन अपनी खास दादी की बात चलाती है, जो ग़दर के पहले बादशाह बहादुरशाह के पास थी। जब वह पकड़े गये,

उसी दर्मियान में यहाँ से वहाँ भागने में, लुटेरों ने उन्हें लूट लिया और मार भी डाला। उसी ज़माने में कुन्दन की माँ दिल्ली से भागकर रतनपुर में आ टिकी थी। वह भी गाने में सारे रतनपुर की तवायफ़ों में फ़र्द थी। और अपने खानदान की इज्जत रखने लायक़ थी। उसने अपने दर्दिले गले से शहर के न-जाने कितनों के गले गाते-गाते रेत डाले और अपनी एकमात्र लड़की कुन्दन के लिए उस गली में एक दो मंजिला पक्का घर और हजार रुपये जमा कर छोड़े।

पचास साल की उम्र तक कुन्दन ने भी रतनपुर में तहलका रखा। वह नाटे क्रद की है, इसलिए जवानी की वह खास रियायत जो नाटों को मिलती है, उसे भी खूब मिली। चालीस की उम्र तक वह बिलकुल गठी, रेखा-भुर्री से रहित और ताज़ी लगती थी। लेकिन उसका दिल आशिक़मिज़ाज क्या हुआ, वह बरबाद हो गई। दुःख के दिनों में घूम-घूमकर उसने रतनपुर की पब्लिक-परियों को अपना यह कटु अनुभव बताया था कि आशिक़मिज़ाजी और वेश्या-व्यापार में उतना ही फ़र्क़ है, जितना ३ और ६ में, सती बनने के विचार और हुस्न-परस्ती में या 'सारंग' और 'सोहनी' में।

क्योंकि, उसने आधी सदी के अपने कमसिन दिल को—आशिक़मिज़ाजी के फेर में पड़ एक 'जवान क्रातिल छोकरे' को सौंपकर अपना बुढ़ापा काटने का सारा सरमाया खो दिया है। कुन्दन बीबी का मोही मन उस लड़के पर ऐसा मचला कि उन्होंने अपना बचा-खुचा यौवन—!—मन, चुम्बन, धन सभी उसे धीरे-धीरे दे डाला। वह पाजी, सारी कमाई मुट्ठी में करते ही, उस बेचारी को बुढ़ौती में ठेंगा दिखाकर, रफूचक्कर हो गया। इस घटना या दुर्घटना का उस बेश्या की दिलदार छाती पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उस लड़के से नाता टूट जाने और

सर्वस्व लुट जाने पर कुन्दन ने सैकड़ों बार अपने मुँह पर पश्चात्ताप के थप्पड़ मारे, अपना माथा कूटा, छाती पीटी कि उसने ऐसा धोखा खाया क्यों ? उसने बाज़ार में बैठकर, वेश्या-पन को भूल, प्यार पर एतबार क्यों किया ? मगर हारी बाज़ी कब लौटती है। आशिकी के उस कद्दुवे कौर को सत्रह वर्ष तक अपने कलेजे के खून के साथ घँटा। जीवन के पिछले दिनों में जब उसे सुख चाहिये था, शान्ति चाहिये थी, तब वह रतनपुर उस चमाचम गली के नुक्कड़ पर खड़ी दलाली करने और ताने सुनने को लाचार हुई। उतने भयानक दिनों तक, महीने में सोलह बार से कम नहीं, शाहजहाँ को गुलाबी बेगम की परपोती को भूखी सोना पड़ा। उसकी तस्वीर ही बदल गई। वही कुन्दन, जो एक दिन रतनपुर की चमक थी, अब शैतान की खाला, चुड़ैल की नानी और भुतनी की भाभी बन गई। उसकी वही नाक जिसमें पड़ी हुई सोने की हलकी नथुनी को बाहर करने वाले रईस ने कई हज़ार रुपये खर्च किये थे, अब लोगों को चिपटी और भयानक दिखाई पड़ने लगी। ओह ! लोगों के एक-एक ताने को वह अंगारे की तरह गले के नीचे उतारती।

वही कहती है, परसाल उसका सौभाग्य पुनः उसके पास लौट आया। जिस दिन वह लौटा, उस दिन वह बहुत ही दुखी थी। तीन दिनों से उसे एक रोटी भी खाने को नहीं मिली थी। लोग चाहते, तो दे सकते थे; मगर, उनका मन्शा यह था, कि वह अपने मकान को गिरों रखे और पेट पाले; पर, यह उसे मंज़ूर नहीं था। न जाने क्यों, सब कुछ खो देने के बाद वह उस घर को खोने से हिचकती थी। उसे भूखों मर जाना मंज़ूर था।

उस दिन वह दुखी इसलिए थी कि भीख की कमाई खाते-खाते उसका खानदानी-मन टूटकर चूर-चूर हो गया था। उस दिन वह एक सच्चे साथी के लिए—जिसे वह चाहकर भी न

कमा सकी—दुखी थी। उस दिन वह एक मिट्टी के लड़के और काठ की लड़की तक के अभाव से दुखी थी। उस दिन वह वेश्या कुन्दन नहीं—थकी, परीशान, प्यासी और भूखी बेचारी कुन्दन थी। उसका दुख सचमुच अपार था।

वही बताती है—घोर अँधेरी रात थी, सावन का महीना था, बादल भूम-भूमकर बरस रहे थे। बगल के मकानों में जवानी से लड़ी उसकी व्यापार-बहिनें खा-पी, नाच-गा और क्या-क्या कर रही थीं और वह भूखी, एकाकी, बेचारी, बूढ़ी, प्रकाश-हीन घर के एक कोने में पड़ी दुख और निराशा और ज्वर से अपने जीवन की अकथ कहानी रो-रोकर सुना रही थी। कभी-कभी वह भगवान् को भी पुकारती थी कि नाथ ! अब या तो जो है उसे सुख से सँवार दो, नहीं तो, बेड़ा गर्क कर दो !

वही बताती है, उसी समय उसके बन्द दरवाजे पर किसी ने थपथपाया। उसने मरे मन से किसी तरह द्वार खोला और बाहर अपने सौभाग्य को खड़े और रोते पाया। वह एक जवान लड़की के रूप में वहाँ खड़ी थी। उसने गिड़गिड़ाकर कुन्दन से कहा—

“तुम मेरी माँ हो, मैं दुखिया औरत हूँ, मुझे अपने पास आश्रय दो। दुनिया में मेरा और कोई भी नहीं है। मैं डरी हूँ।”

आँखें फाड़-फाड़कर उस कोकिल-बैनी का मुँह देखने की चेष्टा करते हुए, उसे भीतर खींचते हुए, कुन्दन ने पूछा—

“तुम्हारा नाम क्या है ?”

“जवाहर”—उसने जवाब दिया और दोनों भिन्न-भिन्न भावों से काँपती हुई दरवाजा बन्द कर घर के अन्धकार में एकाकार हो गईं।

पन्नालाल को 'उम्र भर हम रहे शराबी-से'—का जीता-जागता उदाहरण यदि कहा जाय, तो कोई अनुचित न होगा। अब तो उनकी अवस्था पचास के पार है; लेकिन आज भी शराब-खोरी से उन्होंने तोबा किया हो, सो बात नहीं। अभी वह बिल्कुल तन्दुरुस्त, तगड़े और प्रसन्न-वदन हैं। वह अक्सर हज्जाम से इस बात की बाजी लगाते हैं कि वह उनके सर से या मूर्छों में से एक भी पका—अथवा अध-पका ही—बाल ढूँढ़ दे और उनसे, एक या दो नहीं; पाँच बोतल अंग्रेजी शराब मुफ्त इनाम ले ले।

लोगों का अनुमान है, और यह सच भी है, वह दिन-रात नशे में रहते हैं। चार बजे सुबह, नियम से, सोकर उठते हैं और उठते ही न तो शिव का नाम लेते हैं, न राम का और न कृष्ण ही का। उनके नौकर, भित्र और घर वाले इस बात के गवाह हैं, आँखें खोलते ही उनके मुँह से पहला शब्द निकलता है—'शराब !' शराब की पुकार उनके मुँह से निकली और नौकर ने सोडा, दारू और गिलास सामने पेश किया। तुरन्त ढालकर डेढ़ या दो 'पेग'—या एक छटाँक समझिये—मदिरा और एक बोतल सोडा घट-घट, एक साँस में पेट में उँडेल लेते हैं, जैसे कोई संयमी वासी पानी से 'उषःपान' करे। तब तक नौकर हुक्का ताजा कर उनके सामने लाता है और वह टहल-टहलकर धुआँ उड़ाते हुए शौचादि की तैयारी करते हैं।

समाज ने, मुहल्ले और शहर के भलेमानसों ने और धर्म के ठेकेदारों ने उन्हें हजार बार और हजार तरह से समझाया कि वह यदि शराब पीना छोड़ दें, तो आदमी से हीरा हो जायँ;

मगर, ऐसे उपदेशकों की ओर नशे के भोंक में मुँह बिगाड़कर घृणा से देखने के अलावा उनके पास दूसरा कोई उत्तर नहीं। और इतने पर भी समाज उनसे घृणा नहीं करता; क्योंकि, उनके पास सामाजिक दृष्टि से काफ़ी सम्पत्ति है! सम्पत्तिवान् तो बाबू पन्नालाल के पूर्वज भी थे; क्योंकि, सात-आठ हजार वार्षिक आय की उनकी ज़मींदारी है, पर उन्होंने स्वयं भी दो लाख से ऊपर रुपये दारू पीते-पीते बनाये हैं। वह रतनपुर के प्रसिद्ध मुख्तार हैं। ऐसे मुख्तार जिनकी प्रतिभा की प्रसिद्धि आस-पास के कोड़ियों गाँवों के ज़मींदारों और काश्त-कारों में है। उनके बारे में लोगों की यह धारणा है कि उनके हाथ का मुक़दमा कभी बिगड़ता ही नहीं।

वह अदालत में भी शराब पीकर जाते हैं, साथ ही उनका नौकर हमेशा वहाँ भी बोतल और गिलास लिये तैयार रहता है। चरा-सा भी मौक़ा मिलते ही वह एक-दो घूँट दारू पी लेते हैं और तब अदालत के सामने डटकर बहस करते हैं। लोगों की धारणा है कि जब वह बहस करने लगते हैं, तब 'साक्षात् श्री शारदा भवानी' उनकी जुबान पर आ विराजती हैं। लोगों की इसी धारणा का यह फल है कि ऊँचे-ऊँचे डिग्री-धारी वकील कचहरी के बाहर मक्खी मारते-मारते मरा करते हैं और बाबू पन्नालाल सौ-पचास रुपये रोज़ बनाकर शाम को अपने घर लौटते हैं। पच्चीस वर्ष की उम्र में मुख्तारी पास कर उन्होंने रतनपुर की कचहरी का मुँह जो एक बार देखा, तो आज तक अदालत, हाकिम और मुवक्किल उन पर फिदा हैं।

लोग ऐसा समझते हैं कि नशे में और उदारता में कोई खास रिश्ता है; क्योंकि, प्रायः नशे का गुलाम 'घर-फूँक तमाशा' देखने का शौक्तीन होता है। तभी तो एक-एक नशे के शौक्तीन अपनी अनेक विभूतियों और विशेषताओं को दोनों हाथों से

पन्नालाल को 'उम्र भर हम रहे शराबी-से'—का जीता-जागता उदाहरण यदि कहा जाय, तो कोई अनुचित न होगा। अब तो उनकी अवस्था पचास के पार है; लेकिन आज भी शराब-खोरी से उन्होंने तोबा किया हो, सो बात नहीं। अभी वह बिलकुल तन्दुरुस्त, तगड़े और प्रसन्न-वदन हैं। वह अक्सर हज्जाम से इस बात की बाजी लगाते हैं कि वह उनके सर से या मूछों में से एक भी पका—अथवा अध-पका ही—बाल ढूँढ़ दे और उनसे, एक या दो नहीं; पाँच बोतल अंग्रेजी शराब मुफ्त इनाम ले ले।

लोगों का अनुमान है, और यह सच भी है, वह दिन-रात नशे में रहते हैं। चार बजे सुबह, नियम से, सोकर उठते हैं और उठते ही न तो शिव का नाम लेते हैं, न राम का और न कृष्ण ही का। उनके नौकर, भित्र और घर वाले इस बात के गवाह हैं, आँखें खोलते ही उनके मुँह से पहला शब्द निकलता है—'शराब !' शराब की पुकार उनके मुँह से निकली और नौकर ने सोडा, दारू और गिलास सामने पेश किया। तुरन्त ढालकर डेढ़ या दो 'पेग'—या एक छटाँक समझिये—मदिरा और एक बोतल सोडा घट-घट, एक साँस में पेट में उँडेल लेते हैं, जैसे कोई संयमी बासी पानी से 'उषःपान' करे। तब तक नौकर हुक्का ताजा कर उनके सामने लाता है और वह टहल-टहलकर धुआँ उड़ाते हुए शौचादि की तैयारी करते हैं।

समाज ने, मुहल्ले और शहर के भलेमानसों ने और धर्म के ठेकेदारों ने उन्हें हजार बार और हजार तरह से समझाया कि वह यदि शराब पीना छोड़ दें, तो आदमी से हीरा हो जायँ;

मगर, ऐसे उपदेशकों की ओर नशे के भोंक में मुँह बिगाड़कर घृणा से देखने के अलावा उनके पास दूसरा कोई उत्तर नहीं। और इतने पर भी समाज उनसे घृणा नहीं करता; क्योंकि, उनके पास सामाजिक दृष्टि से काफ़ी सम्पत्ति है! सम्पत्तिवान् तो बाबू पन्नालाल के पूर्वज भी थे; क्योंकि, सात-आठ हजार वार्षिक आय की उनकी ज़मींदारी है, पर उन्होंने स्वयं भी दो लाख से ऊपर रुपये दारू पीते-पीते बनाये हैं। वह रतनपुर के प्रसिद्ध मुख्तार हैं। ऐसे मुख्तार जिनकी प्रतिभा की प्रसिद्धि आस-पास के कोड़ियों गाँवों के ज़मींदारों और काश्तकारों में है। उनके बारे में लोगों की यह धारणा है कि उनके हाथ का मुक़दमा कभी बिगड़ता ही नहीं।

वह अदालत में भी शराब पीकर जाते हैं, साथ ही उनका नौकर हमेशा वहाँ भी बोतल और गिलास लिये तैयार रहता है। ज़रा-सा भी मौक़ा मिलते ही वह एक-दो घूंट दारू पी लेते हैं और तब अदालत के सामने डटकर बहस करते हैं। लोगों की धारणा है कि जब वह बहस करने लगते हैं, तब 'साक्षात् श्री शारदा भवानी' उनकी जुबान पर आ विराजती हैं। लोगों की इसी धारणा का यह फल है कि ऊँचे-ऊँचे डिग्री-धारी वकील कचहरी के बाहर मक्खी मारते-मारते मरा करते हैं और बाबू पन्नालाल सौ-पचास रुपये रोज़ बनाकर शाम को अपने घर लौटते हैं। पच्चीस वर्ष की उम्र में मुख्तारी पास कर उन्होंने रतनपुर की कचहरी का मुँह जो एक बार देखा, तो आज तक अदालत, हाकिम और मुवक्किल उन पर फ़िदा हैं।

लोग ऐसा समझते हैं कि नशे में और उदारता में कोई खास रिश्ता है; क्योंकि, प्रायः नशे का गुलाम 'घर-फूँक तमाशा' देखने का शौक्कीन होता है। तभी तो एक-एक नशे के शौक्कीन अपनी अनेक विभूतियों और विशेषताओं को दोनों हाथों से

लुटाते देखे और सुने जाते हैं; पर, लोगों की इस धारणा के बावजूद पन्नालाल अपवाद हैं। शराबी प्रायः दुराचारी या बहु-स्त्री-गामी होते हैं; मगर यह दोष पन्नालाल में किसी ने कभी नहीं पाया। शहर की उस मशहूर गली में—जिसमें रोज ही एक-त-एक मनचला पागल तबाही का वारण्ट पाता रहता है—उन्हें किसी ने कभी नहीं देखा और न कभी उनके दरवाजे पर ता-ना-ना-दिर-दिर-दिर की आवाज ही किसी ने सुनी है।

नशे के फेर में लोग अपना स्वास्थ्य भी खो देते हैं; पर चालीस-तीस बरस से बराबर सुरा-सेवन करने पर भी पन्नालाल ऐसे स्वस्थ, ऐसे सुन्दर और जवान हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। इस वयस् में भी उनके बाल घोर काले और उनके दाँत दधीचि की हड्डी के बने मालूम पड़ते हैं। वेह उनकी कसी हुई है, छाती तनी हुई। वह अक्सर यह कहते सुने जाते हैं, कि अब के जमाने के चार जवानों को इस पचास वर्ष की अवस्था में भी वह कुशती लड़ा सकते हैं।

अपने खाने, पहनने और पीने में वह ज़रा भी कोताही नहीं करते। अच्छी-से-अच्छी चीज़ों का व्यवहार करते हैं लेकिन अपने एकमात्र पुत्र को भी उक्त वस्तुओं की उतनी सुविधा नहीं देना चाहते, जितनी अपने को। उनका रेशमी कुरता या सज़ी कोट देखकर यदि वह लड़का वैसे ही के लिये हठ करता है, तो बिगड़ पड़ते हैं—तेरा खाना-पहनना मेरे इच्छानुसार होना चाहिये, तब तक जब तक तू कमाता नहीं है। मैं खर्च कर सकता हूँ; क्योंकि मैं पैदा भी करता हूँ—कर सकता हूँ। तू सर्ज का कोट किस बूते पर चाहता है? ना, यह नहीं होने का। जो मैं बनवा दूँ, उसी को, बिला उअ्र, तुझे पहनना चाहिए।

थोड़े में, जीवन में दो ही उनके मुख्य मन्त्र हैं। स्वयं खाना और स्वयं जोड़ना। रुपये के तो वह भयानक लोभी हैं। पेशी के

पूर्व ही—बल्कि गरीब मुवक्किलों से तो दो पेशियों का—नज़राना, पेशगी लेने के बाद ही वह मुख्तारनामा दाखिल होने देते हैं। उनकी इस अर्थ-पिशाचता से सभी परिचित हैं; मगर, उनके दिमारा की खूबी से लाचार भी सब हैं; क्योंकि, सौ में से मुश्किल से कभी एक मुक़दमा उनके हाथ से ख़राब होता है।

उनके परिवार में वह, उनकी स्त्री और एक लड़का मात्र है। लड़के का नाम मानिकलाल है। वही मानिकलाल जो रतनपुर की कन्या और रामपुर की 'बहू' हीरा का बाल-सखा है।

हीरा का पति एक दिन दस-पाँच इष्ट मित्रों, सम्बन्धियों और बड़ों के साथ, एक नाई और आठ कहारों के साथ, पालकी में बैठकर, ससुराल रतनपुर में आया और हीरा को उसके ससुराल, रामपुर, विदा करा ले गया। वह बड़े ठाट-बाट से आया था। उसके पाँव रंगे थे, उसके परिधान नये, रंग-बिरंगे और चमकीले थे। यद्यपि उसकी वह उम्र बीत चुकी थी जिस उम्र के—निमुखिये गुण्डे-से—दूल्हे हमारे समाज में बड़े उत्साह से देखे जाते हैं; यद्यपि हीरा के साथ उसकी दूसरी शादी थी; यद्यपि अब वह काफी बड़ा और भरपूर मुच्छाडिया जवान था; फिर भी, उसकी रँगाई-चूँगाई किसी भी कमसिन दूल्हे से कम नहीं हुई थी। उसकी मूँछों की बगल में, कानों को अपने सुनहले चक्कर में लपेटे हुए, चमकीले और बड़े-बड़े मोमी-मोतियों से सजे वाले खूब ही मजा दे रहे थे। उसके हाथों में सोने के कड़े, गले में कण्ठा, तिलरी और तावीज, कमर में चाँदी की मोटी करधनी अँगुलियों में मोटी, पतली जड़ाऊ, सादी मुँदरियाँ रतनपुर के वर-दर्शकों को भले प्रकार से लुभा रही थीं। कितनी वृद्धाओं ने उसको देखकर, भगवान से हाथ जोड़कर अपनी, अपनी नतनियों, पोतियों और पुत्रियों के लिए वैसे ही चमचम वर की मौन प्रार्थनाएँ कीं।

पर, रतनपुर की अविवाहित लड़कियों और नवागत वधुओं ने हीरा के वर को उतना पसन्द नहीं किया; क्योंकि विवाह के समय ही उसकी मूँछों से वे निराश हो गई थीं। उनका कहना था कि—“यह तो दूल्हा नहीं पूरा ‘मरद’ मालूम पड़ता है। ना: ‘दुआहा वर’ सुन्दर नहीं होता।”

खैर, गौने की और रस्में तो किसी तरह समाप्त हो गईं,

हीरा का पिता गरीब था, उससे न तो विवाह के वक्त रामपुर वालों को कुछ अधिक मिला था और न गौने ही में कोई विशेष आशा थी; लेकिन वर की विदाई में केवल पाँच रुपये मिलते देख उसका पिता आग-बबूला हो गया। उसने हीरा के बाप की ओर देखकर काट-खाने का भाव बनाया, दाँत किटकिटाये और माथे पर शिकन डालकर अफसोस से हाथ मलते हुए कहा —“आह ! किस चमार के घर मैंने अपने लड़के की शादी की। इस पाँच-रुपुल्ली से तो चार चावल ही अच्छे थे।”

समधी द्वारा इस प्रकार अपमानित होने पर हीरा का पिता भी उत्तेजित हो उठा। उसने कहा—“चमार थे, तभी तो दुआहे लड़के से अपनी लक्ष्मी को ब्याह दिया है। धन्य हैं आप जो ऐसे बाजपेयी होकर भी हम चमारों का उद्धार करते फिरते हैं। अब इसे लिवा जाइये अपने स्वर्ग में। अब गाली देने से क्या लाभ। कृपा कीजिये हम गरीबों पर।”

विदाई के समय खासी चिल्ल-पों मची। मुहल्लेभर की लड़कियाँ और बूढ़ियाँ हीरा को गले से लगाकर रोने लगीं। उनमें से कुछ तो बहुत बढ़िया रोनेवाली थीं। वे घंटों तक करुणा का रूखा राग गाती रहीं—आँसू का एक कतरा भी आँखों के बाहर निकाले बिना ! वे रोने के स्वर में शब्दों को खींच-खींचकर धिधियाती रहीं ...

...आह मेरी रानी ! तेरा बाप कैसा निर्दय है, जो उसने तुझे बे-जानों के हाथ में सौंप दिया है। अरी मेरी चमेली ! अब तू दूसरों के आँगन में खिलेगी और मँहकेगी और हमारा आँगन तेरे अभाव से सूना रहेगा, उदास रहेगा। हाय मेरी सीया ! मेरा हीया कैसा काठ-सा है, जो मैं तुझे छोड़ रही हूँ। तू चिट्ठी लिखना, ए रानी ! हमें भूल न जाना, ए मेरी कलेजी.....

हीरा को ऐसी लच्छेदार रोदन-प्रणाली नहीं मालूम थी। वह

भेटनेवालियों के गले से लगाकर उन्हें अपनी छाती की धड़कन से दहलाने, आँसुओं से—सच्चे और सुन्दर आँसुओं से—नहलाने लगी; पर, केवल ऊँ-ऊँ-ई-ई करती हुई। पालकी तक जाते-जाते उसके आँसू सूख गये, आवाज़ पड़ गई और मारे प्रेम और स्वजन-वियोग के वह बेसुध-सी हो गई। दूल्हा के सामने, पालकी के एक कोने में, लुढ़क गई। किन्तु, मुहल्ले की रानेवालियों को इससे सन्तोष नहीं हुआ; क्योंकि, वह लच्छेदारी से नहीं घिघिया सकी थी।

कहार वर और वधू से भरी पालकी उठाकर, अपनी 'बानी' बोलते हुए, अन्य लोगों से कुछ पहले ही, आगे बढ़े। पालकी की चर्रर-चख्र, मच-मच आवाज़ और विचित्र कम्पन हीरा के वियोग और रोदन से थके अल्हड़ तन और मन को शयन और स्वप्न का संवाद देने लगे। वह अपने आपे से ऐसी गाफिल थी कि उसे यह खबर भी नहीं रही कि उसी के सामने उसका कोई शुद्ध सगा बैठा उसे गुरेर रहा है। रतनपुर से एक मील आगे पहुँचते-पहुँचते वह सपने देखने लगी।

इधर पालकी उठते ही हीरा के पति के मन में यह बात जगी कि बस्ती से बाहर होते ही उसकी स्त्री अपना मुँह उसे दिखावे, हँसे, कुछ कहे, कुछ सुने, कुछ.....

वह बड़ी उसुकता से इस इन्तज़ार में रहा कि हीरा सगबगाये और जागे। उसने बार-बार उसके मुँह की ओर देखा; मगर वह घूँघट से ढका था और घूँघट का पट उसकी ला-पवाई तेज़ साँसों से काँप रहा था। उसने एक बार खाँसा; मगर, वह नहीं जागी। फिर उसके लाल-लाल और गहनों से सजे पाँवों पर अपना हाथ रखा; वह ज्यों-की-त्यों रही ! आखिर उसने सावधानी से उसके मुख पर का घूँघट हटा दिया ! घूँघट हटाने के समय उसकी कलाई सतर्क असावधानी से हीरा की छाती पर पड़ी, जिसमें

स्पन्दन का अनुभव हुआ। जिससे उसका मुँह कान तक लाल हो गया। माथे पर पसीना रेंगने लगा।

उसने देखा—उसकी स्त्री साँवली थी, सुडौल थी, स्तब्ध आकर्षक थी। उसकी आँखें यद्यपि उस समय बन्द थीं, फिर भी वे बड़ी-बड़ी और लम्बी-लम्बी बरौनियों से सजी थीं। रोने से उसके चेहरे पर जो थकावट छा गई थी, उसने उसकी शोभा और भी निर्मल कर रखी थी। हीरा के पति की धड़कती छाती में ऐसी इच्छा नाचने लगी कि वह उसे तुरन्त ही भुजाओं में कसकर चूम ले!

चूम ले! उफ़, इस विचार ही से वह इस प्रकार उत्तेजित होकर हिला, कि कहारों के कन्धों पर हल्का-सा धक्का लगा। उन्होंने अपनी बोली में कहा, 'राम दोहाई ऊँचा रे! सँभले भाई, खाला रे!'—उनकी बानी ने हीरा-पति को सावधान कर दिया। उसी समय उसके मन में एक विचार और उठा। वह यह कि बिना इष्ट और कुलदेवों की पूजा और लोकाचार हुए वधू से प्रेमालाप करने से देवता असन्तुष्ट होते हैं। उसने सुना था कि राजा दशरथ ने इसी प्रकार रास्ते में अपनी दूसरी रानी सुमित्रा से प्रेमालाप किया था; जिसके लिये उनके गुरु, या न जाने किसने उन्हें सुमित्रा से सन्तति न पाने का शाप दिया था। अतः उसने निश्चय किया, इस समय जरूर कोई 'वैसा काम' न करना चाहिये।

इसी समय हीरा ने असावधान अँगड़ाई ली। घँघट और भी खुल गया, छाती पर का वस्त्र इधर-उधर बिखर गया और उसके भरे मुख की तरह उसकी उभरी छाती भी परदे के बाहर हो गई। मगर, मुख बिलकुल नग्न था और छाती पर जाकिट कसी हुई थी।

वह स्वप्न देख रही थी। उसे ऐसा मालूम पड़ा, गोया अनेक

काले-काले ढाकू उसको उठाकर जंगल की ओर लिये जा रहे हैं। वह रो रही है, चिल्ला रही है, पर वे छोड़ते नहीं उसको। उन्होंने निविड़ वन में एक शिला पर उसे सुलाया और तब छोड़ कर भाग गये। वह चौंककर उठी और चारों ओर निहारने लगी। उसने देखा—कोई बाघ उसकी ओर झपटा चला आ रहा है! वह डरी, चंचल हुई, स्थिर हुई, धड़कने लगी। वह कहाँ भागे? बाघ उसकी छाती पर पंजे रखकर अपने विकराल जबड़े, जीभ और दाँत दिखाने लगा। उसने उसके मुँह पर अपना भयानक मुख रख दिया। वह काँपकर, सिर से पैर तक कण्टकित होकर, जाग उठी!

उसने देखा—घनी मूँछोंवाला कोई लम्बा और अनाकर्षक मुख उसकी ओर—उसके हाठों की ओर—तृष्णा से भरा, बढ़ा आ रहा है।

वह मुख उसी का था, जिसने उसके माथे में सिन्दूर दिया था और जो उसी पालकी में उसके सामने, उसके ऊपर झुका, स्थिर और मादक दृष्टि से उसे गुरेर रहा था। यदि वह क्षण भर सोच न जागती, तो उसका पति उसे चूम लेता। अपनी भुजाओं में बाँध लेता। पर पति के इस प्रेम-प्रदर्शन से उसके मन में उस व्यक्ति के विरुद्ध न जाने कैसी अपरिचित घृणा जाग उठी। उसने अपने दोनों हाथों से, झटके से, उस लम्बे और अनाकर्षक मुख को पीछे धकेल दिया। भ्रम से उठ बैठी, घूँघट और छाती के वस्त्र सँभालने लगी।

फिर कहारों को धक्का-सा लगा। उन्होंने आवाज़ दी—‘हिल मत भैया! ऊँचा रे—खाला रे!’

मानिकलाल को पहले यह बात नहीं मालूम थी कि हीरा के लिए उसके दिल में कितनी जगह है। मगर, जब से वह ब्याही गई तब से उसको यह अनुभव होने लगा, गोया हीरा यदि संसार में किसी के लिए है, तो उसी के लिए। जिस साल वह ब्याही गई, उसी साल मानिक नवीं श्रेणी से उत्तीर्ण होकर स्कूल की दसवीं श्रेणी में आया था। अब तक वह स्कूल के अच्छे विद्यार्थियों में गिना जाता था। वह खिलवाड़ी तो जरूर था; मगर, स्कूली सबक को चुटकियों में माथे में संचित कर लेने के लिए भी वह अध्यापकों में ख्यात था। वह तिमाही परीक्षा तक पुस्तकें न खरीदता, केवल हाकी-टीम का कप्तान होने की कोशिशें करता। जब क्लास-टीचर बहुत तकाजें करते, यहाँ तक कि क्लास से निकालने और जुर्माना करने की धमकी देते, तब वह किताबें खरीदता और छमाही परीक्षा का समय आते-आते या तो उन्हें अपनी ला-पर्वाही से खो देता, या जान-बूझकर किसी कमजोर और गरीब—मगर, सुन्दर!—सहपाठी को दे देता। वह पढ़ने के जमाने में भी असुन्दरों से रिश्ता कम रखता था। यही उसकी प्रकृति है।

मगर, सालाना इस्तहान का वक्त आते ही वह कुछ-कुछ गम्भीर हो जाता। माता से अथवा पिता से नयी पुस्तकों के लिए रुपये माँगता। अकसर वह अपनी माँ से ही दूसरी बार पुस्तकें खरीदने के लिए रुपये लेता; क्योंकि पन्नालाल, व्यय के ऐसे प्रश्नों पर अपने सम्पूर्ण मुख्तारी के ज्ञान और प्रतिभा से बहस करने लगते। और उनकी बहस मानिक को न रुचती। जो हाँ, दो ही महीने में वह वर्षभर के पाठ्य-विषयों को माँज लेता,

यू कि परीक्षा का फल प्रकट होते-होते उनके अधिकांश रट्टू और घोखू मित्र उससे गजों नहीं फल्लांगों—मीलों—पीछे छूट जाने। उसकी इसी विचित्रता पर सारे अध्यापक मुग्ध रहते।

पर हीरा ब्याही क्या गई मानिक की सारी प्रतिभा ही नष्ट हो गई। उस साल उसने ऐसे रंग बदले कि स्कूल के अध्यापक और उसके सहपाठी हैरान-से रह गये। खेलों का सर्वश्रेष्ठ सराहक और खिलाड़ियों का सच्चा सहायक होते हुए भी उस वर्ष उसने स्कूल-टीम की कैप्टनी नहीं स्वीकार की। धीरे-धीरे और घरवालों से छिपाकर, उसने स्कूल जाना भी कम कर दिया। किताबें लेकर साढ़े नौ बजे घर से निकलता जरूर; पर स्कूल न जाता। या तो अपने ही-से किसी दरियादिल दोस्त को फाँसकर इधर-उधर मटर-गश्ती करता, या रतनपुर के दक्षिण ओर बहनेवाली नीली नदी नारायणी के तट पर चुपचाप बैठकर कुछ सोचा करता—उस पार देखते-देखते। दिन-दिन-भर वह इसी तरह गायब रहता, स्कूल से, घर से, नगर से और शाम को लौटकर, किताबें यथास्थान रख, अपने कमरे में मुँह लटकाकर ध्यानावस्थित बैठ जाता।

शाम को वह घर पर हाज़िर रहता, किसी के डर से नहीं; बल्कि हीरा को 'कहीं देख पाने' के लालच से; क्योंकि प्रायः उस समय वह मानिक की माँ से मिलने या गली में निकलकर—न-जाने क्यों—इधर-उधर देखने के लिए अपने घर से बाहर निकलती। रोज़ तो नहीं, पर सप्ताह में चार दिन अवश्य वह हीरा को कहीं-न-कहीं देखता—सजल आँखों से। वैसे, जैसे मछली मानस की ओर निहारे या मयूर मेघों की ओर।

यदि हीरा उसके घर आती, तो वह भी अपनी माँ के पास चला जाता, जहाँ वह बैठी रहती। मानिक को देखते ही हीरा गुलाबी हो जाती और घँघट काढ़ लेती। बहुत नहीं; मगर थोड़ा-थोड़ा।

मानिक कहता—माँ, देखती है। यह वही तो हीरा है, जो चार बरस पहले सब लड़कों से अधिक मुझको मारती थी। मगर अब यह कैसी बनती है। क्या लजाती है! मन करता है, मैं इसे साराँ एक दिन।

उसकी माँ हँसने लगती—पागल! लड़कियों को ऐसा ही करना पड़ता है। वह दूसरों की होती हैं, ब्याहने के बाद ही परायी हो जाती हैं। यह भी अब रामपुर की हो गई है। अब इसका संसार यहाँ से उठकर वहाँ चला गया है। प्रेम, क्रोध, कृपा, विरोध अब यह वहाँ ही कर सकती है। अब न यह तुझे मार सकती है और न तू इसे।

मगर, हीरा, ऐसी बातों पर अपने सुफेद, सुडौल, सुन्दर, सघन दाँतों को ज़रा-ज़रा-सा खिलाकर, घूँघट ही में पुरानी हीरा का नाट्य करती हुई कहती—मारो न! मैं बहुत दिनों तक तुम्हें धप चुकी अब उसकी कसर तुम चाहो तो खुशी से निकाल लो।

जिस दिन मानिक हीरा से इतनी बातें भी कर पाता, उस दिन वह ऐसा सोचता, गोया उसके भाग्य—हज़ार मनहूस होने पर भी—धन्य, धन्य हैं। मगर, पिछले काँटे वह मानिक के घर बहुत कम आने लगी। अक्सर मानिक की माँ ही उसके घर जाती। ऐसी परिस्थिति में हीरा की तस्वीर, प्रायः साँभ को, उसके द्वार ही पर दिखाई देती। पहले वह आँखों से अपरिचितों को टटोलती-सी घर के बाहर आती। दरवाज़े के बैठके में मानिक उसे जोहा करता। देखते ही प्रसन्न हो जाता और छिपे-छिपे देखने और प्रसन्न होने लगता। फिर, वह कमरे के बाहर आता और हीरा अपने दरवाज़े की आड़ में हो जाती, पर उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखें बाहर की ओर ताकती ही रहतीं।

गौने के चार दिन पहले वह मानिक की माँ से मिलने आई

थी। मानिक तो इन्तज़ार ही में था। ज्यों ही वह घर में घुसी त्यों ही वह भी उसके पीछे हो लिया। हीरा दालान में पहुँचकर रुक गई, जान-बूझकर। उसे रुकते देख उससे गजों दूर पर मानिक भी खड़ा हो गया। दोनों की आँखें, एक भाव से, चार हुईं।

“जाओ!”—हीरा ने कहा, “मैं, तुम्हारे पीछे आऊँगी।”

“तू जाती क्यों नहीं?”—मानिक बोला, “मेरे लिए रुकने-वाली तू कौन?”

हीरा ने उदासी से कहा, “हूँ!”

“जा न!”—मानिक ने दोहराया।

“मुझे तो जाना ही है। आज नहीं कल सही, कल नहीं परसों सही, मैं क्या यहाँ टिकने आई हूँ? जा—जा क्या कहते हो, ज़रा निकट आओ, धीरे से एक बात पूछूँगी।”

“ना, ना,”—मानिक ने सात्विकता से अपने कान झूते हुए कहा, “निकट नहीं आ सकता। तू मुझे छू लेगी।”

“मैं क्या ऐसी अछूत हो गई हूँ?”

“हाँ हीरा, तू अब हम-जैसों के लिए अछूत ही हो गई है। माँ मना करती हैं।”

हीरा ने एक लम्बी साँस ली। निराशा से मानिक की ओर देखकर वह आगे बढ़ी। मानिक की छाती धड़कने लगी। शायद हीरा की भी। मानिक की छाती के उस स्पन्दन का नाम ‘क्रिया’ हो सकता है और हीरा की धड़कन का नाम—शायद—‘प्रतिक्रिया’!

“हीरा!”—इस बार मानिक ने उसे बाधा दी।

“हाँ,”—वह रुकी—“अब जाने क्यों नहीं देते?”

“एक बात मुझे भी पूछनी है।”

“पूछो!”

“ज़रा निकट आ, धीरे से पूछूँगा।”

“तुम्हीं आओ ।”

मानिक उसके निकट हो गया ।

“मैं पूछता हूँ,—उसने रूखा व्यंग्य-सा किया, “ब्याह कैसा होता है ?”

“जल्द ही जान लोगे ।”—उसने कहा, “माँ कहती थीं, तुम्हारे ब्याह का मोल-भाव चल रहा है ।”

“हट ! मोल-भाव कहती है । क्या तेरे ब्याह का मोल-भाव हुआ था ?”

“मेरे का नहीं हो सका । मैं गरीब की बेटी जो हूँ । तुम जानते नहीं ? तुम्हारा तो सोदा ही होगा ।”—उसने तीखी मुस्कराहट में लपेटकर कहा, “तुम भाग्यवान् हो मानिक ! तुम्हें किसी ‘बड़े’ की ‘बड़ी’ का ‘बड़ दूल्हा’ बनना है ।”

“मैं यह सब नहीं पूछता ।”—मानिक ने कहा, “मैं पूछता हूँ; ब्याह कैसा होता है ?”

“रामपुर से लिखूंगी ।”

“दुर ! तुम्हे लिखना कहाँ आता है ?”

“ओहो !”—वह पाजीपन से हँसी, “मैंने समझा मैं ही स्कूल जाती और दर्जा दस में पढ़ती हूँ । मगर यह तो तुम्हारी बात है । खैर, तुम्हीं मुझे रामपुर पत्र लिखकर बताना कि ब्याह कैसा होता है । शीघ्र ही तुम जानोगे इस बात को—हाँ, तुम्हारी जान की कसम !”

“हट, डायन ! अपनी जान की कसम क्यों नहीं खाती ?”

“मेरी जान कहाँ, मानिक ! मैं तो गरीब हूँ ।”

मानिक ने आँख बदलकर कहा, “ऐसे बोलेंगी, तो पट से मार दूँगा । यह नहीं सोचूँगा कि, तू रामपुर की है या रतनपुर की ।”

“मारो !”—वह, बिजली-सी चमककर चार गज दूर हो रही ।

जवाहर का हाथ पकड़कर उस रिम-फ़िम सावन और घोर अंधकार में कुन्दन अपने घर के निचले खण्ड की उसी कोठरी की ओर बढ़ी तो—जिसमें क्षण-भर पूर्व सोई हुई वह अपने मन्द-भाग्यों को कल्प रही थी; मगर थोड़ी ही दूर चलने पर उसे ज्ञात हुआ कि आने वाली अपरिचिता सिर से पैर तक भींगी हुई है।

उसको पहनने के लिए इस समय वह दे क्या ? यह सोचने पर उसको याद आई कि ऊपर के खण्ड में काठ की टूटी सन्दूक में एक फटी और पुरानी महीन सारी है। यद्यपि उससे 'औरत की लाज' नहीं ढँकी जा सकती—यह कुन्दन ने समझा; मगर, यह भी समझा कि उस अंधकार, एकान्त और बरसाती रात में वहाँ था ही कौन जिसके आगे लाज की जरूरत हो।

“तुम्हारे कपड़े भींगे हैं,”—उसने जवाहर को बीच कोठरी में रोककर कहा, “ठहरो, ज़रा बिस्तर समेट लूँ, फिर दो-तल्ले में चला जाय। वहाँ तुम्हें दूसरा कपड़ा दूँगी, तब न तुम इसे उतारकर सुखा सकोगी।”

जवाहर जहाँ-की-तहाँ चुपचाप खड़ी सर्दी तथा चिन्ताओं से काँपती रही। कभी-कभी दहलते हुए उसके दाँतों की हल्की टकराहट बूढ़ी कुन्दन के कानों तक पहुँच जाती थी, जिसे सुनकर उसके मन में बड़ी सहानुभूति जाग उठी उस अनजान लड़की के के लिए; क्योंकि उस समय वह स्वयं दुखी थी। और एक दुखी दूसरे दुखी को खूब समझता है।

तुरन्त टाट और फटा तकिया समेटकर वह सीढ़ियों की ओर बढ़ी। जवाहर उसके पीछे-पीछे थी। उसके कपड़े के कोनों से पानी इस तरह टपक रहा था, जैसे मकान की मोरी चले। कोठरी,

रास्ता, सीढ़ियाँ, जहाँ-जहाँ उसके पैर पड़े वहाँ-वहाँ पानी-ही-पानी हो गया। ऊपर पहुँचते ही 'विस्तर' नामधारी टाट को एक ओर फेंककर कुन्दन ने पहले तीनों खिड़कियाँ खोल दीं, जिससे वहाँ का निविड़ अंधकार ज़रा-सा धुंधला हो गया। खिड़की खोलते हुए उसकी नज़र सड़क पर गई; पर, वहाँ कुछ भी स्पष्ट न दिखाई पड़ा। हाँ, यह बोध अवश्य हुआ कि ख़ूब वृष्टि हो रही है, नदी की तरह सड़क बह रही है। सामने के तिनतल्ले मकान की खिड़कियाँ बन्द थीं; उनके छिद्रों से प्रकाश की चिनगारियाँ बाहर की ओर भाँक रही थीं। इससे, किसी अन्य आहट के अभाव में भी मुहल्ले से परिचित कुन्दन ने अन्दाज़ लगा लिया कि उसकी पड़ोसिनें अभी सोई नहीं हैं।

“तुम अपनी धोती उतारकर, दरवाज़े पर खड़ी होकर, सीढ़ियों पर निचोड़ डालो। तब तक मैं सन्दूक से दूसरी धोती निकाल लाती हूँ। संकोच न करो बेटी! इस मकान में मुझे छोड़ और कोई भी नहीं है।”

चुपचाप जवाहर उस अंधकार में भंगी हो गई और कुन्दन के कथनानुसार उसने अपनी धोती निचाड़ ली।

“लो!”—फटी धोती लाकर कुन्दन ने कहा—“इसे तब तक लपेट लो। और, गीली धोती को—यहाँ—इस अलगनी पर पसार दो। तुम्हें दिखाई पड़ता है कि नहीं? इधर आओ।”

“ज़रा देह पोंछ लूँ!”—धीरे से जवाहर ने कहा।

“हाँ, हाँ बेटी! ज़रूर पोंछ लो।”—उसकी ओर बढ़ती हुई कुन्दन बोली, “मालूम पड़ता है, तुम देर से इस बरसात में भीग रही थीं। ओह मेरे भगवान्! तेरे तो दाँत बज रहे हैं।”

आगे बढ़कर उसने जवाहर के तन को अंधकार में टटोला। उसका हाथ उसकी कमर पर पड़ा, जिस पर उसके केश अभी तक टप्-टप् टपक रहे थे।

“बालों को मजे में पोंछ लो—खूब मजे में—नहीं तो तबीयत खराब हो जायगी। आह री गरीबी! आज मेरे पास इतना कपड़ा भी नहीं कि तुम्हें गरम कर सकूँ।”

वह फिर जवाहर को छोड़ सन्दूक की तरफ बढ़ी, उसमें पुनः कुछ टटोलने लगी। आवश्यकता ने उसे स्मरण दिलाया कि उसके निचले भाग में एक फटा कम्बल भी रखा है, जिसे दीमकों ने और कीड़ों ने बारी-बारी से काट-काट डाला है। मगर, इतने पर भी इस वक्त वह लाख टके के लिहाफ का काम दे सकता है। उसने निकाल बाहर किया उसे। टाट को जमीन पर फैलाकर तकिन्ने को फटककर एक ओर रखा, और बोली—

“पहन चुकी? फैला दी गीली धोती? इधर आओ। यह कम्बल तो उस धोती से भी ज्यादा तबाह है; पर, तुम्हें कुछ-न-कुछ आराम ही देगा।”

जवाहर उसके पास आकर टाट पर बैठ गई। बूढ़ी कुन्दन कम्बल फैलाकर टटोलती हुई उसकी देह को ढकने लगी। उसी टटोल में उसने जवाहर के अंगों का स्पर्श किया, गालों की गोलाई और आँखों की बड़ाई का अनुभव किया। उसके गले और छाती तक हाथ पहुँचते-पहुँचते, न जाने क्या सोच-समझकर, वह कुछ ऐसी प्रसन्न हुई कि उसका दिल धड़कने लगा। जैसे कोई नवयुवक किसी नवयौवना को स्पर्श कर हर्षित और पुलकित हो, वैसी ही दशा जवाहर को जवान जानकर बूढ़ी कुन्दन के मन की हुई। पकड़कर बरबस उसको उसने टाट पर लिटा दिया, तकिया उसके सर के नीचे रख दिया और गर्दन के ऊपर का हिस्सा खुला छोड़ बाकी देह को उस फटे कम्बल से ढक दिया।

“सदी ज्यादा मालूम पड़ती है?”

“नहीं……”—धीरे से जवाहर ने साँस ली।

“अब भी जड़ाती हो, तो बोलो ! मैं भी तुम्हारे ऊपर लेट जाऊँ।”

जवाहर ने जोर से कहा, “नहीं ! बहुत मज्जे में हूँ।”

“कब से भींग रही थी ?”

“दो-तीन घण्टे से।”

“दो-तीन घण्टे से हे भगवान् !”

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। कुन्दन मन-ही-मन सोचती रही कि किस तरह उस लड़की का परिचय पूछना प्रारम्भ करे। वह कौन हो सकती है ? बोल-चाल से तो भले घर की मालूम पड़ती है। क्या वह किसी की विधवा बेटी या वधू है ? या किसी कमजोर आदमी की चंचल घरवाली है। वह मज्जे में जानती थी इस बात को कि उस मुहल्ले में समाज से बहकी हुई लड़कियाँ अकसर आती रहती हैं। कोई महीना खाली नहीं जाने पाता। बाहरी आमदनी ऐसी चोखी न हो, तो उस चम-चम गली में चन्द दिनों में ही गधे लोटने और स्यार रोने लगें। यह भी वह जानती थी। जवाहर के अनायास आगमन को अपने पक्ष में उसने आमदनी ही समझी—फिर आगे चलकर चाहे किसी भी मिजाज की वह क्यों न साबित हो।

जरा गरमी पाकर जवाहर ताजी हुई और कम्बल के भीतर सगबगई। कुन्दन ने उसकी छाती पर हाथ रखते हुए पूछा—

“क्या है बेटी ?”

“मुझे डर मालूम पड़ता है।”

“किसका डर ? आराम से सोओ—इस जगह किसी का डर नहीं। यह मेरा घर है।”

“उसने मुझे ढूँढ़ने के लिए सिपाहियों को चारों ओर भेजा होगा।”

“किसने ?”

“उसी ने—उसी स्टेशन-मास्टर ने ।”

“कौन स्टेशन मास्टर ? अरे ! तुम स्टेशन से इस रात और बरसात में भीगती-भागती आई हो !! तुम कौन हो ? तुम्हारा घर कहाँ है ?”

“मैं मुन्शीगंज की रहने वाली हूँ ।”

“कौन मुन्शीगंज ? वही जो इलाहाबाद से कई स्टेशन आगे पड़ता है ?”

“हाँ, मेरा घर वहीं है । वहीं से, अपनी इच्छा से, घर और मुन्शीगंज से ऊबकर, मैं परसों से भगी हुई हूँ ।”

“अच्छा—तुम अपने घर से भाग निकली हो । ख़ूब तकलीफ़ देते थे घरवाले न ! अरी बेटा, यह दुनिया ही ऐसी है । अपने दिन जब पतले हो जाते हैं, तब अपने सगे-सजन भी साँसतें करने लगते हैं । तुम रतनपुर में कब आई ?”

“कल ६ बजे रात । इसी स्टेशन पर मुझे टिकट जाँचने वाले ने उतार दिया । मेरे पास टिकट नहीं था ।”

“तुम जा कहाँ रही थीं ?”

“मालूम नहीं । दोपहर के बाद घर से भागकर मुन्शीगंज स्टेशन के उस पार एक खंडहर में मैं छिपी रही । जब शाम हुई और एक सवारी गाड़ी आई तब मैं दूसरी ओर से आकर, धीरे से उसमें बैठ रही । सोचा था—कहीं भाग चलूँ; फिर जो होगा देखा जायगा ।”

“फिर ?”

“यहाँ के स्टेशन पर पहले टिकट जाँचने वाला आया । माँगने पर जब उसको मैंने टिकट नहीं दिखाया, तब उसने पूछ-जाँच शुरू की और फिर यहाँ के स्टेशन पर उतारकर स्टेशन-मास्टर के हवाले कर दिया । स्टेशन-मास्टर ने सर से पैर तक मुझे देखकर धमकी के स्वर में पूछा—‘तेरा टिकट कहाँ है ?’

मैंने डरते-डरते जवाब दिया—‘बाबूजी, मेरे पास टिकट नहीं है। पैसे भी नहीं हैं। यह मेरा कड़ा आप ले लें और मुझे छोड़ दें।’ इस पर उसने पुनः तीव्र दृष्टि से मुझे देखा—‘नौकरी करेगी?’ मैंने कहा—‘बाबूजी कड़े ले लो और मुझे जाने दो।’ उसने धमकाया—‘नहीं! तू पाजी औरत मालूम पड़ती है। तुझे पुलिस के हवाले करना होगा।’

“बड़ा पाजी था दईमारा!”—कुन्दन ने बनावटी रोष से कहा।

“मैं डर गई,”—जवाहर बोली, “काँपने लगी। मैंने कहा—‘आप मुझे पुलिस में न दें। मैं नौकरी करूँगी।’ मैं मन-ही-मन समझ गई कि उसकी नौकरी कैसी होगी; मगर पुलिस के हाथ में पड़ने से, उस वक्त मुझे वह नौकरी कहीं अच्छी मालूम पड़ी।”

“तो कल रात और आज दिन भर तुम उसी के साथ थीं?”

“हाँ—मेरे राज़ी हो जाने पर एक चपरासी के साथ उसने मुझे अपने डेरे पर भेज दिया जो स्टेशन के पीछे है और ईंटों का बना हुआ छोटा बँगला है। रास्ते ही में उस चपरासी ने मुझे बताया कि स्टेशन-मास्टर की नौकरी आसान नहीं। उसने बताया कि इस नौकरी के सिलसिले में मुझे बहुतों को खुश करना होगा। आजकल स्टेशन-मास्टर की घरवाली मायके में है इसलिए मैं बँगले में टिकाई जा रही हूँ। उसके आते ही मुझे किसी रेलवे खलासी या सिपाही के साथ रहना और स्टेशन-मास्टर की नौकरी करना होगा। सचमुच, दूसरे दिन कई आदमी मुझे देखने के लिए आये। वे ऐसी नज़रों से मुझे गुरेरेते गोया पावें तो खा ही जायँगे। मैं डर गई उनकी आँखों और चितवनों के अर्थ से। इसी से ज़रा-सा मोक्का पाते ही, आज ही भाग खड़ी हुई। लेकिन उसने मुझे चेताया था कि मैं भागूँगी तो

वह पुलिस से पकड़वा मँगावेगा। चोरी के इल्जाम में जेल भेज देगा।”

“तुम्हारी बातें ! तुम्हारा बाल तक तो वह बाँका नहीं कर सकता बेटी। आज से तुम मेरी बेटी से बढ़कर हुई। क्या मजाल जो कलटूर तक मेरे घर पर तुम्हारे दामन में हाथ लगा सके। मैं, हजार गरीब होने पर भी, गुलाबी बेगम की परपोती हूँ। वही गुलाबी बेगम जिन पर आज से तीन सौ बरस पहले बादशाह शाहजहाँ फिदा थे। स्टेशन-मास्टर ! - मुझोंसा !!”

वह प्रेम और आश्वासन से जवाहर के गाल पर हलकी-हलकी थपकियाँ देने लगी।

मानिकलाल जान-बूझकर उस दिन स्कूल गया, जिस दिन हीरा विदा होने वाली थी। और सो भी समय से बहुत पहले ही। साढ़े नौ बजे से पूर्व ही वहाँ पहुँच गया। अभी स्कूल का चपरासी भी नहीं आया था। दरवाजे बन्द थे। हॉल में भंगी भाड़ दे रहा था। उस समय मानिक का देखकर, अधिक परिचय न होने पर भी, वह चकित हुआ। “अभी से बाबू! तीन घंटे पहले!” उसने भाड़ लगाना बन्द कर मानिक की ओर देखा। “आज कुछ ज़रूरी काम यहीं करना है जी”—मानिक ने भंगी को उत्तर दिया, “हॉल बुहार लेने के बाद ‘टेन्थ एक्लास’ में पहले भाड़ दे देना, फिर दूसरे क्लासों को बुहारना, हाँ।” भंगी ने संकेत से मानिक की इच्छा पूर्ण करने का वादा किया और फिर अपने काम में, पीठ और सर झुकाकर, जुट पड़ा।

अपने स्थान पर पुस्तकें रख देने के बाद वह बाहर आकर टहलने और सोचने लगा। वह सोचने लगा कि इतनी जल्द घर से यहाँ भाग आने की क्या ज़रूरत थी? वह परायी चीज़ यदि पराये के पास जा रही है, तो उसके मन में इस बात को लेकर आन्दोलन क्यों हो रहा है? माना, वह उसको प्यार करता है। हीरा भी उसको चाहती है। ब्याह हो जाने पर भी उनमें एक दूसरे के लिए हृदय है और स्पन्दन है और पुलक है—यह भी उसने मन-ही-मन मान लिया—पर, वह घर से भाग क्यों आया?

वह जाती है—जाय। वह रोती है—रोवे। हमेशा के लिए उसकी प्रेम-परिधि के बाहर हो रही है—होवे, होवे, जो होना ही ही है, ज़रूर होवे। उसे विधाता के इस विषम या विकट अथवा

विप्लवमय विधान को उतनी ही हिम्मत से देखना चाहिये था, जितनी हिम्मत से वह हीरा की काली-काली, बड़ी-बड़ी, जीवन-मयी आँखों को देखता था ! वह भाग क्यों आया ?

पहले उसने सोचा था कि हीरा जब तक उसकी आँखों के सामने है, तभी तक यह मन का मेला और आँखों का तमाशा है । एक बार उसने रतनपुर छोड़ा और बस सब समाप्त हुआ । मगर आज इस पलायन से उसे कुछ और ही समझ पड़ा । क्या समझ पड़ा ? उसने ठीक-ठीक समझा नहीं । वह केवल किताबें उठाकर, ढाई घण्टे पहले, घर से स्कूल भाग आया । सोचा, उसकी गैरहाजिरी में प्रेम का, हृदय का, मन का, सारा तूफान हमेशा के लिए उसके मुहल्ले, घर और रतनपुर से दूर निकल जायगा और वह सन्ध्या को, गोधूली की गम्भीर शान्ति में, नये 'मानिकलाल' के वेश में अपने घर लौटेगा । परन्तु उसकी वह धारणा शायद वैसी ही थी जैसी उस रेगिस्तानी जानवर की जाँ तूफान को सर पर देखकर, आँखें बन्द कर, गर्दन झुकाकर बालू के समुद्र में भ्रान्त-शान्त खड़ा हो जाता है—यह सोचता हुआ कि न देखने ही से तूफान व्यर्थ हो जायगा ।

मगर, उस भोले पशु पर अन्धड़ अपना आतङ्क पसारता ही है—उसके अस्तित्व को अपने हाहाकार में छिपा ही लेता है । वैसे ही, घर से भागने पर भी, मानिकलाल बहुत दूर न भाग सका; हीरा से, उसकी उन आँखों से और जीवन की उन मधुर, मोहिनी, ममतामयी स्मृतियों से । शरीर उसका स्कूल के बाहर ज़रूर टहल रहा था, पर वह, उसके भीतर का मानिकलाल ज्यों-का-त्यों अपने बैठके ही में बैठा रहा—आँखें हीरा के द्वार पर गड़ाये । स्कूल में रहने पर भी वह मजे में हीरा को देख रहा था । उसके पाँव रँगें, बाल गंथे, माँग में सिन्दूर, हाथ में सोने के कंकण, सिन्दूरी चूड़ियाँ और उनकी भन-भन-भन तक मानिक के कानों

में साफ़ गूँज रही थीं। उसके पाँवों के पाजोब और नूपुरों की रिन-फिन-रिन-फिन, उसकी चूँदरी का चमकता हुआ रंग, उसकी काली आँखों में काजल की रेखा—जैसे कालिन्दी के उस पार घनश्याम की पंक्ति !! ओह ! आज भाग आने पर हीर। उसके बहुत निकट, बहुत साफ़, बहुत मोहिनी दिखाई पड़ी !

धीरे-धीरे स्कूल भरने लगा। लड़के आते, उसकी ओर उसके विचित्र चिन्तित मुख की ओर, साश्चर्य देखते। जान-पहचान के मित्र दुआ-सलाम करते, हाथ मिलाते, कुशल और उदासी का कारण और यह तथा वह बातें पूछते। मानिक मशीन की तरह उनसे हाथ मिलाता, बोलता और उन्हें टालता रहा। मगर टहलने के अलावा और भी कुछ वह कर रहा था—इसका उसको भरपूर ज्ञान नहीं था। जैसे कोई मन्त्र से बँधा जीव हो। जैसे मद से मस्त मानव हो कोई।

एकाएक न-जाने क्या उसके जी में आया। वह झपटा अपने क्लास-रूम की ओर। क्लास-टीचर आ गये थे, हाजिरी हो रही थी, पर उसने न तो अध्यापक को अभिवादन किया और न उनकी ओर ध्यान ही दिया। सीधे अपने स्थान पर जाकर किताबें उठा क्लास के बाहर की ओर बढ़ा।

“कहाँ चले ? कहाँ चले ?”—उसके सहपाठियों ने आवाज दी।

“मानिक—यू मिस्टर मानिकलाल !”—क्लास-टीचर ने कलम रोककर पुकारा उसको, “कहाँ जा रहे हो ?”

“सर,”—दरवाजे पर रुककर उसने कहा, “मुझे बुखार चढ़ा है, जाने दीजिये।” टीचर ने उसका माथा और हाथ छूकर उसकी ओर साश्चर्य देखा, “अरे ! ऐसे उबर में तुम यहाँ आये ही क्यों ? जाओ, रास्ते में डक्का मिले तो उस पर बैठकर जाना। खाना खा चुके ?—नहीं। ठीक है, आज नागा कर जाना। पहला

ही दिन है न ? बस नागा ही, उपवास ही, इसकी पहली दवा है। सुनते हो, कुनैन भूलकर भी न खाना। खतरनाक गरमी होती है उसमें।”

स्कूल-अहाते के वह बाहर हुआ—भूमता हुआ, बेहोश-सा। एक ओर बढ़ा। थोड़ी ही दूर जाने पर उसका एक दिली-दोस्त और सहपाठी जल्दी-जल्दी स्कूल की ओर लपका आता दिखाई पड़ा। उसे देर हो गई थी। मानिक को देखकर वह रुका; मगर, मानिक उसको देखकर भी रुका नहीं। इस अपरिचित व्यवहार पर मित्र को आश्चर्य हुआ। अब बिना उसको रोके, विलम्ब होने पर भी वह स्कूल की ओर न बढ़ सका।

“क्यों ?”

“क्या ?”

“कहाँ ?”

“क्या ?”

“कहाँ जा रहे हो बस्ता लिये ?—इस बार पास नहीं होना है क्या ?”

“क्या—हूँ—अच्छा मुझे जाने दो। आइ बेग योर पार्डन।”  
—वह पुनः आगे बढ़ा। उसके मित्र ने फिर उसे रोका।

“अरे यार कहाँ जा रहे हो—स्कूल उधर नहीं, इस ओर है।”

अब जैसे मानिक को कुछ आवेश आ गया। मित्र की वह मुहब्बत उसको बहुत बुरी मालूम पड़ी।

“अपना काम देखो, मुझे जाने दो। मैं कहता हूँ, हाथ छोड़ दो—चले जाओ ! मेरा जी ठीक नहीं। उलझोगे तो मैं मार बैठूँगा।”

“वाहरे ! चलो इधर—चलना होगा।”

इस बार भरपूर जोर से मानिक ने उस प्रिय मित्र को पेसा

धक्का दिया कि दो गज दूर जाकर वह ज़मीन पर लुढ़क गया । किताबें बिखर गईं । साथ ही वह टूटकर आगे की ओर भागा । भागने में उसकी एक-दो-तीन किताबें रास्ते में गिर गईं । उसे पता नहीं ! पाकेट से उछलकर कलम और पेंसिल सड़क सूँघने लगी उसे खबर नहीं ।

और अपने घर की ओर नहीं, वह तो नीली नदी नारायणी की ओर दौड़ा—भपटा—चला जा रहा था !

पन्नालाल मसनद के सहारे बैठे कभी कानून की किताबें और कभी अदालत के कागजों को उलट-पलट रहे थे। उनके सामने छोटी चौकी पर कलमदान और बहुत-से कागज पत्र रखे हुए थे। दाहिनी ओर सिलवर का बड़ा-सा पेचवान था जिसकी सटक उनके मुँह में लगी थी। वह कभी धीरे से उसे पुड़पुड़ाते और कभी कसकर धुआँ खींचकर धीरे-धीरे मुँह से बाहर उड़ाते थे।

आगे उनके, टाट पर, दुबला-पतला, चिथड़ों से लदा, मैला और दुर्गन्धित कोई देहाती बूढ़ा घुटने टेककर—अपने जान भर-पूर अदब से—बैठा था। ‘मुख्तार साहेब’ से वह कुछ ‘अरज’ करना चाहता था। मगर, उसके कमरे में घुसते ही पन्नालाल की दुनिया-देखी आँखों ने न-जाने कौनसी बात देख ली उसके वेश-विन्यास और नेत्रों में जिससे वह हताश हो गये। देहाती उन्हें देनदार आसामी नहीं जँचा।

इसोलिए, बूढ़ा भीतर आया, अदब से झुककर उसने मुख्तार साहब को लम्बा सलाम किया, मगर उनकी नज़र उस पर नहीं पड़ी। वह कागजों के उलटने-पलटने में ऐसे मग्न रहे जैसे कोई योगी योग में। लाचार, बूढ़ा टाट की छोर पर घुटने मोड़कर बैठ गया। इस आशा में कि ‘सरकार’ की नज़र हो तो अपनी कहानी रो सुनाये।

पन्नालाल के माथे में सुबह की पी हुई शराब जब ख़ूब मस्ती से भूम उठी तभी तो वह दरिद्र आया उनके कमरे में। उन्हें मन-ही-मन बहुत बुरा लगा उसका आना, बैठना और दाँत निकालने की भूमिका-सा मुँह बनाना। वह लाचार थे अपने कानूनी

ज्ञान और पेशे से, वर्ना उसको धक्के देकर उसी वक़्त अपने सामने से दूर हटा देते। हँ हँ ! सुबह-सुबह, नशे के शबाब में, भैया नहीं, बाबू नहीं, चाँदी नहीं, सोना नहीं—यह साला मरकट सामने आ फटा।

उसको अपमानित और परेशान करने के लिए बिला जरूरत ही पन्नालाल कागज़ों को उलटने और उलटने और उलटने लगे। मगर, देहाती उनके मनोभावों को कुछ न समझ सका। वह तो बहुत दिनों से जानता था इस बात को कि कचहरी वाले काम पढ़ने पर कैसे 'कठकरेज' हो जाते हैं। वह तो घर ही से, गालियाँ और धक्कों की आशा लगाये आया था। यह बात उसकी उस समय की चितवनों से झलकती थी, जब मुख्तार से उसकी आँखें टक्कर खा जातीं। मुख्तार साहब ऐसे देखते मानो कह रहे हैं—'भाग, कंगाल—सूअर !' बूढ़े की आँखें उनकी आँखों से गिड़गिड़ाती—'दोहाई धर्मावतार ! बड़े संकट में पड़ा हूँ।'।

धीरे-धीरे तम्बाकू जल गया पन्नालाल ने सोचा—क्यों जल गया ? रोज तो इतनी जल्द नहीं जल जाता था। नौकर ने पाजीपना किया है। ठीक से चिलम सजाई नहीं। बेगार टालता है। अरे साला नौकर !

पन्नालाल भैसे की तरह गरजे। देहाती बेचारा सन्न हो गया। उसने सोचा जरूर मुख्तार साहल खफ़ा हो गये। क्योंकि उसने पन्नालाल के बारे में सुन रखा था कि वह गरीबों को देखकर खाँव-खाँव करने लगते हैं। उसे पूरी आशा हो गई, उनकी बड़ी-बड़ी रकती-आँखें देखकर कि अब उसकी गर्दन बिना नपे न बचेगी। यदि एक बार और वैसे ही "अरे अरे !" वह गरजते तो जरूर बूढ़ा देहाती भाग खड़ा होता। उसी समय उनका नौकर भय से भीत-सा कमरे में आया।

“साले !” पन्नालाल की बहस करने वाली घनी प्रतिभा उत्तेजना से चमककर बरस पड़ी—बेचारे नौकर के सर पर—  
 “सुअर ! यह तूने हुक्का भरा है या ४२० किया है ? ज़रा-सा मुँह से सटक लगाया और तम्बाकू खाक ! खांपड़ी में अकल और अकल में होश रखकर काम नहीं करता !”

चिलम उठाकर, सर झुकाये नौकर चला गया । मन-ही-मन मुख्तार बहादुर को ४२० के अलावा कोई और दफा न लगाने—और गालियाँ न देने के लिए धन्यवाद देता हुआ ।

“तुम्हें क्या कहना है जी ?”—अब बूढ़े की ओर देखकर, हाथ की किताब एक ओर फेंकते हुए, मुँह बिगाड़कर उन्होंने पूछा ।

“धर्मावतार !”—देहाती गिड़गिड़ाया, “मेरा लड़का कल पकड़ लिया गया है ।”

“३७८ में ? चोरी में ? हूँ; तुम तो देखते ही ‘वही’ मालूम पड़ते हो । कौनसी चीज़ चुराई थी उसने ? खलिहान से सवा सेर नाज या एक खँचिया भूसा ? या किसी का पेड़ काट लिया था ?”

“नहीं धर्मावतार !”—वह गिड़गिड़ाया, “हम गरीब हैं; मगर, चोर या बदमाश नहीं हैं । भगवान ही जानते होंगे । हमारे ऊपर बैठे बिठाये गजब दूट पड़ा है, सरकार !”

“फिज़ूल बको मत !”—पन्नालाल ने डाटा, “जल्द बताओ—रुपये हैं ? या केवल बातें बनाने आये हो ? मुफ्त में—सुबह से लेकर शाम साढ़े सात बजे तक—मैं एक शब्द भी नहीं बोलता । मेरी फ्रीस फ्री-पेशी बीस रुपये हैं । याने चालीस अधेली—अस्सी सूके । समझते हो ?”

बूढ़ा मुख्तार साहब का मुँह बकर-बकर ताकता रहा ।

“रुपये अगर हों,”—उन्होंने पुनः फटकार से कहा, “तो कोई हर्ज नहीं । लड़के ने चोरी अभी तक न भी की हो, तो कहो उससे

अब सेंध मारे । मैं बचा लूँगा ।”

“चोरी में वह नहीं पकड़ा गया है, हुजूर....।”

“फिर...?”

“खून में ! आपने सुना नहीं ? हमारे गाँव की उस जवान और बेवा कोरिन को, परसों रात में, किमी ने हलाल कर डाला । गड़ासे से पहले उसकी नाक उतार ली—फिर गर्दन । उसी के लिए, किसी और का न पाकर, दारोगा जी ने मेरे लड़के को और एक कोरी को गिरफ्तार किया है ।”

“ऐसे ही गिरफ्तार कर लिया है ? जरूर तुम्हारे लड़के का उस बेवा से कोई ताल्लुक रहा होगा ।”

इसी समय नौकर चिलम तैयार करके ले आया । उसे यथा-स्थान रखकर वह मुख्तार की ओर—कुछ कहने के लिए—ताकने लगा ।

“क्या है ?”

“कुछ लोग मिलना चाहते हैं ?”

“कौन है बे ? इसी देहाती बूढ़े के भाई या बाप तो नहीं हैं ? तू आदमी पहचानता है या घास खाता है ?”

“मैंने उनसे पूछा हुजूर ”—दबते हुए नौकर ने कहा, “वे ‘लड़का देखने’ आये हैं ।”

“इस वक्त लड़का देखने वाले !”—खीभे बड़े जोरों से बाबू पन्नालाल—“इन भले जानवरा को इतनी तमीज भी नहीं कि ठीक वक्त से आवें ! इतवार का आते तो क्या लड़का कहीं गायब हो जाता । बुलाआ !” नौकर के जाने पर, देहाती की ओर घूरकर उन्होंने कहा, “आज़ का दिन मनहूसियत ही में बीतता नज़र आता है । हाँ, क्या कहना है तुम्हें ? तुमने उस कोरिन का खून कैसे किया ?”

“मैंने नहीं धर्मावताः !”—वह कलप चला अपनी कथा,

“और मेरे बेटे ने भी नहीं। जाने भगवान, हम खूनी नहीं हैं। मगर गरीब हैं। जब कोई नहीं मिला, तो गाँव के मोटे लोगों ने चार मुद्दियों को गवाह बनाकर मेरे बेटे और उस कोरी को फँसा दिया है।”

‘लड़का देखने वाले’ भीतर आये—चकपकाते से। उन्होंने पन्नालाल के लम्बे-चौड़े, गठे और रोबीले शरीर को बड़े गौर से देखा। वे दो थे, जिनमें एक घुटा और खुला सर, बड़ी चुन्डी, माथे में लिपा चन्दन और अन्य अनेक कारणों से पुरोहित मालूम पड़ता था। पन्नालाल ने गम्भीर अभिवादन और साधारण आव-भगत के बाद उन्हें अपने पास आसन दिया।

“आज्ञा हो...?”—उन्होंने पुरोहित से कहा।

“बाबूजी,”—पुरोहित ने बत्तीसों दाँत बिना हँसी के दिखाते हुए कहा, “हम आपके कुमार जी को देखने आये हैं।”

“देखने वाले तो दस-पाँच रोज ही आते हैं, महाराज!” पन्नालाल ने अपना गम्भीर-व्यापार आरम्भ किया, “मगर, ज्यादातर उनमें फिजूल के छोटे भाई ही होते हैं। केवल वक्रत खराब करते हैं।”

“मगर,”—दूसरे व्यक्ति ने कहा, जो लड़की का पिता मालूम पड़ता था, “हम तो आप से सम्बन्ध करने आये हैं। हम जानते हैं, आपका वक्रत कीमती है; मगर, लड़की वाले की कैसी गरज होती है, यह वही समझ सकता है जिसके एक-दो कन्याएँ हों।”

“ठीक कहा आपने,”—पन्नालाल ने कृत्रिम मुस्कराहट में लपेटकर कहा, “मगर, लड़की वालों को एक बात का ध्यान रखना चाहिए। उन्हें अपने ही जोड़ का रिश्ता करना चाहिए। पर ऐसा होता कहाँ है? जिसके पास कल खाने का दाना नहीं होता वह भी राजा बलि ही का अपना सम्बन्धी बनाना चाहता है। यही सारी खराबी की जड़ है। ऐसे ही लोग जब मेरे लड़के को देखने आते हैं और अन्त में दाँत निकालकर चले जाते हैं, तब

मैं अपने समय का मूल्य आँकने लगता हूँ।”

“आप तो राजा हैं, मुख्तार जी !”—पुरोहित ने कहा, “हम आपकी समता कहाँ पा सकते हैं; मगर, हम भी ईश्वर की दया से खाते-पीते मजे में हैं।” लड़की के बाप की ओर इशारा कर पुरोहित ने कहा, “बाबू के आठ हल चलते हैं, नवपुरा गाँव में। उसमें दस आने इनकी ज़मींदारी है। इलाहाबाद के रहने वाले हैं, जहाँ अपनी निज की कोठी भी है। हमारी भी एक ही लड़की है। हम जरूर बड़े हौसले से उसे किसी योग्य वर और घर में सौंपना चाहते हैं। आप से छिपाना क्या है—परसों स्कूल में जाकर हमने आपके सुन्दर पुत्र को देख लिया है। ख़ूब जोड़ी होगी। जैसे आपके पुत्र देव-कुमार-से हैं वैसी ही हमारी कन्या भी देवी-सी है। लड़का सत्रह का मालूम पड़ता है—है न ?”

“अभी पूरे सत्रह साल नहीं हुए, पिछले महीने में सोलहवाँ पूरा है। लड़की की क्या उमर होगी ?”

“उसका तेरहवाँ लगा है,”—पुरोहित ने कहा, “ख़ूब जोड़ी है। अब आप ज़रा कुण्डली दीजिये—बच्चाजी की।”

पन्नालाल ने उठकर सामने की आलमारी खोली और उससे मानिक की कुण्डली का लम्बा पुलिन्दा बाहर कर ब्राह्मण के हाथ में दिया। तुरन्त ही विप्र देवता ने उसे सर्र-सर्र स्वर में फैला दिया। वह रह-रहकर कुछ पढ़ने और सोचने और अन्त में मुस्कराने लगे।

“ठीक है,”—ब्राह्मण ने कहा, “हमारे ही यहाँ आपको सम्बन्ध करना चाहिये। हर तरह से ठीक है।”

“तब महाराज !”—पन्नालाल ने कहा, “असली बात भी अब होनी चाहिये। मेरे एक ही लड़का है—आप तिलक और दहेज में क्या देंगे ?”

“जो हुक्म हो,”—लड़की के बाप ने कहा, “हम हाज़िर हैं।”

“हम दो हजार तिलक लेंगे और उतना ही ब्याह के वक्त आँगन में। इससे कम में सन्तुष्ट न होंगे हम और इससे ज्यादा देने से लड़कीवालों की उदारता समझी जायगी। आखिर जो देगा अपनी लड़की या दामाद ही को तो देगा।”

पन्नालाल का ‘भाव’ सुनकर एक बार पुराहित और यजमान सन्नाटे में आ गये। यह चतुर मुख्तार ने भी भाँपा। वह घोर व्यापारी था। उन दोनों को विचारने का मौका देने के लिए, उन्होंने, इतनी देर बाद पुनः बूढ़े देहाती को घूरा—

“सुनते हो ? मेरी फीस बीस रुपये की पेशी है। तुमने खून किया—खूब किया है। मगर, रुपये लेकर मेरे सामने आओ तब तुम्हारा काम होगा। देखते ही हो, बिना रुपये के मैं अपने एक मात्र लड़के की शादी भी पक्की नहीं कर सकता। दुनिया के प्रत्येक काम के ‘गणेशायनमः’ के पहले ‘श्री’ जरूरी है।”

अवश्य ही पन्नालाल के अन्तिम शब्दों का लक्ष्य वह देहाती उतना नहीं था जितना वे थे जो मानिक को माँगने आये थे।

“मैंने खून नहीं किया है सरकार !”—उसने आजिजी से पन्नालाल को पसीजना चाहा—“मेरे बेकसूर बेटे को पुलिस और गाँव के मुद्दियों ने खून के सन्देह में गिरफ्तार करा दिया है। दोहाई मुख्तार साहेब की ! हम बड़े गरीब हैं। हमें बचाइये।”

मगर, पन्नालाल ने उसकी बातें नहीं सुनीं। वह तो लड़की के पिता के मुँह पर पढ़ रहे थे—चार हजार नक़द !

कुन्दन को रात भर नींद कहाँ आई। थोड़ी ही देर बाद जवाहर से उसकी बातचीत बन्द हो गई। वह बेचारी थकी-माँदी डरी, नवयौवना ताकती-ताकती, बोलती-बोलती सो गई। बूँदें धीमी पड़ीं, बादलों की मस्ती रुकी, पवन पागल हो चला और चंचला चमत्कार-हीन होकर ओझल हो गई।

मगर, बूढ़ी कुन्दन की आँखों में नींद नहीं। वह तो जवाहर को लेकर मन-ही-मन अपने हवाई किले गढ़ने में परीशान थी। सोचती थी, कब सबेरा हो और वह अपने सौभाग्य का मुँह एक बार देखे। वह अवश्य ही सुन्दर है, यह विश्वास उसका पूर्ण था। उसने टो लिया था और अपने उस्ताद हाथों की बातों पर उसको पूरा भरोसा था। फिर भी, कब प्रभात हो कब प्रभात हो !—वह सोच रही थी।

पौ फटने के आध घंटा पूर्व उसकी आँखें ज़रा भारी हुई—लग गईं। वह सपना देखने लगी। उसने देखा, चाँदी के उजले सिंहासन पर एक जवान और परम रूपवती नायिका बैठी हुई है। उसके वस्त्र सफ़ेद हैं, सिल्की हैं। सफ़ेद ही इसराज उसके हाथ में—हाथी दाँती हाथ में—सुशोभित है। बजा रही है वह उस यन्त्र को और मोहिनी मन्त्र की तरह पीलू गा रही है। आह ! दहलते दिल से कुन्दन ने उसकी ओर देखा। मानो कुछ-कुछ पहचानती है। फिर ध्यान से, सपने ही में, उसका गान सुनने और समझने की कोशिश करने लगी।

उसने समझा आखिर। वह गा रही थी वही वर्जित गान—  
‘मैं उस पार चलूँगी आली; भाँझरि नाव, नदी मतवाली।’  
ओह ! कुन्दन पहचान गई। वह उसकी महा-मातामही चम्पाकली

बेगम थी। जिसे नीरस औरंगजेब ने मरवा डाला था। उसी गाने के लिए—उसी रागिनी के लिए !

थोड़ी देर बाद उसने अनुभव किया मानो गाना रोककर चम्पाकली उससे कुछ कह रही है, मुस्कराती-मुस्कराती। क्या कह रही है—वह सुन न सकी। सुना तो शायद उसने, पर समझ न सकी। और सम्भवतः समझा भी उस समय, परन्तु याद न रख सकी ! उसकी आँखें खुल गईं। उसने देखा कमरे में उजाला है। उजाला है ! पल भर में रात की घटनाएँ उसकी नस-नस में नाच उठीं। भ्रम से वह उठ बैठी और साश्चर्य, निद्रा से अभिभूत जवाहर का मुँह निहारने लगी।

उस मुँह पर नज़र पड़ते ही वह चकाचौंध होकर ठिठक-सी गई। उसकी आँखें मानो गड़ गईं उस पर। वह तो उसका पहचाना मुख था। कहाँ देखा था ? देखा था—आह !—उसे याद आई—स...पने में !! अरे—उस-अपरिचिता नवयौवना का मुँह, उसका उज्ज्वल रंग, ठीक-ठीक सपने की चम्पाकली बेगम की तरह था।

एक ही क्षण में कुन्दन को विश्वास हो गया कि वह लड़की उसका सौभाग्य है। उसने यहाँ तक अन्दाज़ लगा लिया कि हो न हो स्वयं उसकी परदादी उसके उद्धार के लिए परलोक को छोड़ पिछली रात के बादलों और बूँदों के साथ स्वर्ग से आसमान और आसमान से ज़मीन पर उतर आई है। वह एक बार गद्गद्-सी हो गई जवाहर की साँचा ढली काया देखकर, उसकी पतली कमर देखकर, कसी और ऊँची और सुडौल छाती देखकर, आदमी ने पागल और पागल को आदमी कर देने योग्य—नारङ्गी की फाँकों-से रस-भरे ओष्ठ देखकर ! उसने मन-ही-मन कहा, यह जवाहर नहीं, हीरा है। हीरा ही नहीं, हीरे की खान है। उठकर, पायसाने जाकर, आँचल को पाँच बार पृथ्वी और अपने

माथे से स्पर्श कर उसने जवाहर को—अपने सौभाग्य को—नमस्कार किया। मन में यह सोचती हुई कि जरूर वह उसकी परदादी चम्पाकली की आत्मा है।

“किसके पावों की बलाएँ ले रही हो कुन्दन ? ओहो !!”

अब कुन्दन को होश हुआ। वह दो तल्ले में थी, सामने की खिड़कियाँ खुली थीं और उसकी पड़ोसिन वेश्या का यार खिड़की से आधा धड़ बाहर निकालकर भौंचक्का-सा जवाहर को जवानी को देख रहा था। देख क्या रहा था—आँखों-ही-आँखों पी रहा था।

“अरे बड़े !”—कुन्दन ने झिड़ककर ऐय्याश की ओर देखा—“एक घर से दूसरे घर में भाँकना कहाँ की शराफत है ?”

“कौन है वह कुन्दन ?”—इशारे से ऐय्याश ने दरियाफ्त किया। क्योंकि उसे डर था अपनी वेश्या का। इस पूछ-जाँच की आवाज़ उसके कानों तक पहुँचती तो अवश्य ही वह जाग उठती और सुना बैठती दस-पाँच खरी-खोटी। व्यापारिक-स्पर्धा और जातीय-द्वेष उसके मन में जाग उठता।

कुन्दन ने उसको कोई जवाब नहीं दिया। हाँ खिड़की के दरवाजे जरूर बन्द कर दिये। तुरन्त नीचे उतरकर, निबटकर, वह भाड़ू देने लगी—इसलिए कि उसके यहाँ लक्ष्मी आ गई थीं और उनके सामने घर स्वच्छ और पवित्र अवश्य रहना चाहिए।

अभी वह बटोर ही रही थी कि किसी ने दरवाजा खट-खटाया। कुन्दन ने देखा तो वही सामने वाली का यार था वह झुँझलाई उसके इस धृष्ट-आगमन पर।

“क्यों ?”

“वह कौन है, कुन्दन ?”

“तुमसे वास्ता ? मेरे घर में काला चोर हो—तुम पूछने वाले कौन ? ऐ भले मानस, खिसको यहाँ से। उसी पंचक्की के पास जाकर अपनी क्रिस्मत को पीसो।”

“वह बड़ी खूबसूरत है कुन्दन—कौन है ?”

“भागो यहाँ से—नहीं तो मैं कुछ कह-सुन बैठूँगी। तुम्हारी वो...है, तुम्हारी वो...है—बताऊँ ?”

“अच्छा कोई हो, मैं उसे चाहता हूँ, वह बड़ी खूबसूरत है। उतनी दूर से ही उसे देखकर मैं दीवाना हो गया हूँ।”—ऐय्याश ने पाकिट में हाथ डाल कागज़ के दो टुकड़े बाहर किये, “इन्हें लो—पेशगी।”

भपटकर पहले कुन्दन ने दस-दस के उन नोटों को अपने हड्डिले-चंगुल में बटोर लिया। जैसे चील भींभड़े पर छापा मारे। फिर बोली—

“वह मेरी माँसी की बेटी है। वह बाज़ारू तो है नहीं। उसकी शादी हुई है।”

“भूठी कहीं की,”—ऐय्याश ने कहा, “खा अपने पिचके गालों की क़सम ! अरे मैं सब समझता हूँ। इस गली में नयी चीज़ें जब आती हैं तो अक्सर वे किसी-न-किसी की माँसी की बेटी या फूफी की साली ही होती हैं। जो हो—पेशगी बयाना मेरा है। मैं शाम को फिर खटखटाऊँगा। आह, कुन्दन ! तुम्हारी माँसी की बेटी राज़ब की छोकरी मालूम पड़ती है। जान की क़सम !”

ऐय्याश के चले जाने पर कुन्दन प्रसन्नता से पागल हो गई। बेशक वह अपरिचिता उसका सौभाग्य है। तभी तो; अभी उसने उसके घर में ताका भी नहीं और चाँदी बरसने लगी !

हीरा पर श्वसुर-पुर में पहुँचते ही, अपरचितों की आँखें बरसने लगीं। पूरे एक सप्ताह तक रामपुर की लुगाइयाँ आ-आकर उसका मुँह देखती रहीं। बहुत सी रिश्तेदारिनों ने, 'मुँह देखाई' में, उसे नक़द रुपये, अँगूठियाँ या दूसरे आभूषण भी दिये। कइयों ने उसकी बड़ी-बड़ी आँखों की, सुन्दर स्वास्थ्य की, प्रसन्न और आकर्षक वदन की प्रशंसा की। साथ ही, कइयों ने उन प्रशंसा करने वालियों की आँखों में मौखिक 'मिरचा और राई' भी डाली—इसलिए कि नई वधू पर किसी की टोना-भरी कुदृष्टि न लग जाय।

उसकी सास को किसी ने बता रखा था कि लड़की का रंग काला है। इसी से, हीरा के गृह-प्रवेश के पूर्व उसके मन में उसके रूप के बारे में अनेक दुर्भाविनाएँ थीं। वह सोच रही थी, हो-न-हो लड़की का रंग कजरौटे-सा हो। अगर ऐसा हुआ तो जरूर उसके पुत्र से उसकी न पड़ेगी। घर की शान्ति भंग हो जायगी। लड़का बे-हाथ हो जायगा। लड़के के बे-हाथ होने का हीरा की सास को दृढ़ विश्वास था; क्योंकि, प्रथम पतोहू की मृत्यु के बाद उसके पूत के जो लच्छन हो गये थे, उनसे वह परिचित थी।

मगर, पतोहू का मुखड़ा, उसकी सुगठित देह, देखते ही उसके सारे सन्देह समूल सुदूर सिधार गये। वह बहुत देर तक वधू का मुँह अपने दोनों हाथों में सँभाले भर-भर नैन निहारती रही। उसने उस मुँह में कुलीनता देखी, दया के दर्शन किये, प्रेम की परछाँई पाई। वह फूल उठी प्रसन्नता से। उसने हीरा के माथे को, दोनों गालों को, पके होठों को चूम-चूम लिया।

हीरा की दो जेठानियाँ थीं। पहले ही दिन कुल-देव के स्थान

पर प्रणाम-पूजा करने के बाद वे दोनों उसे एकान्त में लिवा गईं । उन्होंने उसके आगे, चाँदी की तशतरी में, दही और गुड़ रखा श्वसुर-गृह का प्रथम और पवित्र जल-पान । मगर, उसकी इच्छा उस समय जल-पान की नहीं थी । वह सोच रही थी, लड़कियाँ कैसी अभागिनी होती हैं जो होश सँभालते ही अपनों द्वारा अनजानों के हवाले कर दी जाती हैं । क्या यह संभव नहीं कि जो लड़की पिता का घर न छोड़ना चाहे—न छोड़े ? क्या यह संभव नहीं कि वह तुरन्त रतनपुर को लौटा दी जाय ? आह !—रतनपुर ! जहाँ पर उसकी करुणामयी जननी उसके लिए रोती होगी । रतनपुर—जहाँ उसका वृद्ध, गरीब और दयालु पिता उसके अभाव का आन्तरिक आन्दोलनमय अनुभव करता होगा । रतनपुर जहाँ उसका—“वह...साथी...वह चिर-परिचित...वह मानि...” “मुझे जल-पान की इच्छा नहीं है ।” तशतरी सामने से जरा खिसकाती हुई वह जेठानियों से बोली—अपने मर्म-बेधी विचारों से जागकर ।

“अरे ! अरे !!”—वधू की इस मूढ़ता पर जेठानियाँ आश्चर्य और अज्ञात-भय से चमक उठीं । उस भय से जिसका सम्बन्ध अन्धविश्वास से अधिक है । कैसी लड़की है ! दही-गुड़ ही की रसम में ब्रीक रही है ।

मगर, उनकी आँखें देखते ही हीरा को कुछ स्मरण हो आया । याद आई उसकी माँ की वे शिचाएँ जो उसने, इधर आने के पूर्व, उसे दी थीं । बताया था—देवता को प्रणाम करना, सास के पाँव धरना, जेठानियों के गोड़ लगाना, घूँघट काढ़े रहना, चञ्चलता न प्रकट करना, उनकी बातें ध्यान से सुनकर तदनुसार आचरण करना, प्रति की पवित्रता से—प्रेम से—सेवा करना । उसे फौरन यह याद भी आई कि आरम्भ में दही-गुड़ खाने की प्रथा भी है । वह जानती है—देख चुकी है । भूख हो या न हो—मन करे या

न करे, दही-गुड़ करना ही—खाना ही—उचित है।

उसने अपनी कोमल, सुडौल अँगुलियों से दही-गुड़ के पाँच सुकुमार ग्रास मुँह में रखे। जेठानियों ने भी इस छोटी-सी घटना पर विशेष ध्यान नहीं दिया। जब वह हाथ धो चुकी तब उनमें से एक ने बढ़कर कहा, “मैं तुम्हारी बड़ी जेठानी हूँ।”

हीरा ने अंचल से पाँच बार उसके चरण छूकर उसका अभिवादन किया।

“और मैं छोटी जेठानी हूँ। मेरे भी पाँव लगा बहन !”

हँसकर दूसरी ने भी उससे अपने पाँव छुआए। हीरा ने देखा उसकी बड़ी जेठानी अधेड़ थी। उसके चेहरे पर यौवन की सुकुमारता नहीं, बनावट की और अस्वस्थता की कठोरता चमक रही थी। उसी ने उसके दही-गुड़ न करने पर तिखाई से ‘अरे, अरे!’ कहा था। उसका मुँह—धूर्त्त-सा, प्रेम-हीन-सा—हीरा को रुचा नहीं।

मगर, दूसरी बुरी नहीं लगी। उसकी उम्र बीस या इक्कीस की-सी थी। वह स्वस्थ थी, गोरी थी, हँसमुख थी और जवान भी थी। उसकी आँखों से पता चलता था कि उसमें दया है। उसकी मुस्कराहट में प्रेम और सहृदयता महक रही थी।

आने के चौथे या पाँचवें दिन बड़ी जेठानी ने हीरा से पूछा कि रामपुर का यह उसका घर उसको पसन्द है कि नहीं ?

हीरा ने सरलता से कहा, “नहीं।”

“नहीं ?”—जेठानी जी आश्चर्य से चमक उठी, “नहीं ? यह पत्थर का पक्का, संगीन, सुन्दर, हवादार, भला मकान तुम्हें पसन्द नहीं ? तुम किस महल की रानी हो बहन, जो यह तुम्हें पसन्द नहीं ? ज़रा सुनूँ।”

घर की सभी औरतें वहाँ थीं। हीरा की सास ने भी यह संवाद चाव से सुना था। उसे अपनी बड़ी पुत्र-वधू की अकारण

तीव्रता रुची नहीं। उसने हीरा ही का पत्त लिया—

“वाह रे !”—हीरा की जेठानी को सास ने प्रेम से डाटा—  
“बड़ी मेरी पतोहू को कड़ी-कड़ी सुनाने वाली ! तुझे न जँचता होगा तेरे बाप का घर; पर सभी लड़कियाँ काठ की नहीं होतीं। मेरे भी एक लड़की थी और उसकी ससुराल हम से हजार गुना चढ़ी-बढ़ी थी, पर उसे भी वहाँ के महल नहीं पसन्द थे। स्वयं मैं, जब छोटी थी, इस घर को रूखा-सा देखती थी।”

“मेरे बाप का घर महल नहीं है माँ,”—हीरा ने सास को बताया, “यह कौन नहीं जानता। मिट्टी की दीवारें खड़ी हैं—कहीं छाई, कहीं अनछाई—पर, इन बड़ी-बड़ी हवादार कोठरियों से मुझको वे अधिक सुखद मालूम पड़ती हैं।”

“तो चलो,”—छोटी जेठानी ने मुस्कराते हुए हीरा से कहा, “वहीं हम लोग चलकर रहें। अब तो तुम्हारे ही मन का करना होगा। दोगी हमें वहाँ रहने ?”

“मेरे घर में मजूरिनें नहीं हैं बहन !”—हीरा मुस्कराई, मधुरता से, “बरतन अपने हाथ से मलना होगा।”

“हट !”—मचलकर छोटी जेठानी ने कहा।

“अब आ गई हो तुम न—बहन !”—बड़ी जेठानी जी बोली, “अब यहाँ से भी मजूरिनों का पौरा उठा ही समझो। देखूंगी, माँ ने तुम्हें कितना बरतन माँजना सिखाया है।”

“तुम बरतनों को जूठा करती-करती थक जाओगी बहन,”—हीरा ने उत्तर दिया, “पर मैं उन्हें साफ़ करते-करते न थकूंगी। देख लेना।”

दावा-भरे प्रेम से जेठानी ने कहा, “अच्छा रे अच्छा !”

सास ने कहा, “जो लड़की बरतन न माँज सके, वह भी कोई लड़की है। अमीरी हो सकती है मजूरिनों से बरतन माँजने में, पर स्वयं माँजने में जो पवित्रता रहती है, उस पर लाख अमीरी

निछावर है। मुझे तो मजूरिन का माँजा चाँदी का गिलास भी दूर ही से गँधाता है। मैं अपने हाथ न हिलाऊँ, तो मुझे दाना न पचे—पानी न घूटा जाय।”

हीरा के व्यवहार के लिए जो हवादार कोठरी मिली थी उसमें अब तक उसके साथ उसकी सास और छोटी जेठानी भी सोती थीं। मगर जिस दिन ‘फूल-सेज’ को सायत थी उसके सबेरे बात-ही-बात में छोटी जेठानी ने उमको बताया कि आज से तुम हमारे साथ नहीं, उसके साथ सोओगी जिसके साथ सोने के लिए रतनपुर से यहाँ आई हो। हीरा की समझ में जेठानी का इशारा आ गया। वह काँप-सी उठी उक्त संवाद पर। उसका चेहरा अनायास साँवले से कृष्ण हो गया। होठ उसके सुख-से उठे!

“क्यों-क्यों? क्या इस घर की तरह हमारा देवर भी तुम्हें पसन्द नहीं?”—छोटी जेठानी ने प्रेम-भरे व्यंग से पूछा।

“मैं तुम्हारे ही पास सोऊँगी, बहन!”—हीरा ने आजिजी से कहा, “इस जगह तुमसे अधिक मुझको कोई भी पसन्द नहीं। तुम बड़ी प्यारी हो।”

“हट!”—जेठानी बोली, “निरी बच्ची है। अरे एक रात उनके साथ भी काट—वह कोई पराये नहीं हैं। वह भालू-बाघ भी नहीं है—राम जानें! मैं इस बात की कसम तक खा सकती हूँ।”

“मैं तो तुम्हारे ही साथ सोऊँगी—कोई दूसरा मेरी कोठरी में आवेगा तो मैं भाग खड़ी होऊँगी। बताये देती हूँ।”

“कह ले आज इस तरह,”—जेठानी ने अनुभव की दोहाई दी, “मगर हमेशा यही पागलपन न बोलेंगे। चार ही दिन बाद—बहन!—हम लोग दूसरी हो जायँगी और वह ‘दूसरा’ पहला हो जायगा।”

रात को खा-पी चुकने के बाद हीरा और उसकी वह जेठानी उसकी कोठरी में बैठी बातें करती रहीं। वह उसको समझा रही थी कि, तुम्हारे 'वह' जो हैं बड़े मनचले हैं। तुम्हारी बहादुरी तब समझी जायगी जब तुम उन्हें अपनी मुट्ठी में कर लोगी। ऐसा जादू मारो, ऐसी मोहनी डालो कि कोठरी के बाहर निकलने का नाम तक न लें—हाँ।”

उसी समय हीरा की सास ने उसकी जेठानी को बाहर बुलाया। हीरा मन-ही-मन समझ गई, अब वही घटना घटेगी। वह घटना ! उसकी छाती धड़कने लगी। उसका कलेजा मुँह को आने लगा। वह सेज पर इस तरह करवटें बदलने लगी जैसे गरम तवे पर बेकल जल की बूँदें। वह सोचने लगी कि किस तरह कहाँ भाग जाय जो इस आन्तरिक अपमान से उसका पिंड छूटे।

बाहर किसी की आवाज सुनाई पड़ी। उसे मालूम पड़ा जैसे उसकी वही जेठानी किसी से बातें कर रही है।

“जानते थे कि आज कहाँ सोना होगा,”—उसकी आवाज सुनाई पड़ी, “फिर भी बाहर ही सो गये ! बनते हो।”

“चुप रहो, मुझे नींद लगी है।”

“अरे-अरे ! मेरे ऊपर क्यों गिरे पड़ते हो ! उस ओर जाओ—उधर गिरो।”

“इसीलिए बुलाया है ? मैं बाहर सोऊँगा। यहाँ गरमी ज्यादा है।”

“वाह रे गरमी ज्यादा है। मन-मन भावे, मूड़ हिलावे ! बाहर कौन है जिसके लिए बे-कल हो ? क्या उस गलीवाली 'वह' आई है ?”

“जुर्प !”

“अरी माँ... !”—जेठानी तिखाई से बोली, “इतनी जोर से

मेरा मुँह दबा दिया ! बड़े पहलवान बने हैं । देखो, इसी तरह उस बच्ची का मुँह भी न दबा देना—पहलवानी न दिखाना—नहीं तो ठीक न होगा । मैं चिताए देती हूँ ।”

जैसे बरबस हीरा के पति को उस कोठरी में धकेल जेठानी ने, खिलखिलाते हुए, बाहर से साँकल चढ़ा दी !

मानिकलाल स्कूल से भागकर नीली नदी नारायणी के पास आया। गर्मी के दिन थे। भगवान तपन ताव से तप रहे थे। नारायणी की साँवली रेत को उत्तेजित पवन भर्र-भर्र चारों ओर बगेर रहा था। प्रायः मध्यान्ह का समय था। अब तट पर स्नानार्थी नहीं रह गये थे। कुछ विलम्ब के कारण और बहुत कुछ ताप के कारण। नहीं तो, ठंडे दिनों में दोपहर के बाद रतनपुर वाले नारायणी को घेरे रहते थे।

वह किनारे पर टहलने लगा, न जाने क्या-क्या सोचता हुआ। उसका माथा चक्कर खा रहा था, उसका छाती जोर-जोर से धड़क रही थी, उसकी आँखों के सामने का दृश्य मानों उसको दिखाई नहीं पड़ रहा था। रेत जल रही थी, मगर उसके पाँवों को उसका अनुभव नहीं हो रहा था। पवन उसके रंग-हीन मुँह को ताककर कभी नारायणी के अंचल की नन्ही-नन्ही, ठण्डी, अलख बूँदें फेंक मारता था; कभी तट की गर्म रेत से बिखरे बालों को, माथे को, सारे अंग को नहला देता था। लेकिन, उस समय वह गोया शीत और उष्ण से ऊपर के लोक में था।

यों ही बहुत काल तक हाहाकार में घूमने के बाद एकाएक उसका जी उधर से उचटा। वह तट से करारे की ओर बढ़ा। शायद यह सोचकर कि घर चले। मगर करारे पर आते-आते उसका विचार पुनः पलट गया। घर के नाम ही से, न-जाने क्यों, उसके मन में एक प्रकार की अश्रद्धा-सी भभक उठी।

कपरे पर एक पीपल का पेड़ था। बहुत घना, लम्बा-चाड़ा और बहुत पुराना। उसकी जड़ में वहाँ के हिन्दुओं ने महादेव, हनुमान, शीतला, गदाधर और न जाने किन-किन देवी-देवताओं

की मूर्तियाँ स्थापित कर रखी थीं। स्नान कर घर लौटते समय रतनपुर के आस्तिक हिन्दू और उनकी स्त्रियाँ उन मूर्तियों पर नारायणी का जल अपने लोटे या घड़े से निकालकर चढ़ाती थीं। चा-बूँदें छिड़कने के बाद ही पुरुष आँखें मूँदकर कुछ मन्त्र या पवित्र नाम अथवा हनूमान-चालीसा के छन्द बुदबुदाते; स्त्रियाँ यह या वह प्रार्थना करतीं, कुछ माँगतीं और मिलने पर कुछ सेवा-पूजा करने का मानसिक वचन देतीं। उसी पेड़ के नीचे मानिक भी जाकर खड़ा हो गया। उन मूर्तियों की ओर निहारने लगा। वह मन-ही-मन उनसे कहने लगा कि तुम यदि वरदान दे सकती हो तो दो ! मैं भी कुछ चाहता हूँ। कामना पूर्ण होते ही तुम्हारी पूजा और सेवा करूँगा।

मगर वह चाहता क्या है ? उसके ही मन ने उसके मन से पूछा। लेकिन उसका ही मन उसको साफ जवाब न दे सका। वह क्या चाह सकता है ? उसके चाहने योग्य चीज़ ही कहाँ है ? ना वह कुछ नहीं चाहता। उसने देखा, हनूमान के माथे पर पीपल की जड़ से निकलकर एक काला कीड़ा मटरगशती करने लगा। महादेव के आस-पास के अक्षतों को गिलहरियाँ चुन-चुनकर खाने लगीं। एक तो पिंडी के माथे तक पर सवार हो गई—उन चावलों के लिए। उसने सोचा—वाह ! अच्छे देवता हैं। अच्छे इनके पूजने वाले हैं। ये भला वरदान क्या देंगे ? पत्थर से कहीं रस निकलता है ?

वह हटा वहाँ से और ज़रा दूर जाकर एक पत्थर पर बैठ गया। पहले वह मुँह से सीटी बजाकर किसी राजल का स्वर हवा में भरने लगा। फिर जोर से कुछ गाने लगा। वह प्रेम की कोई कविता गाने लगा।

“मुझे प्यास लगी है...” उसके गान की प्रथम पंक्ति का अर्थ था, और शेष का था—“ऊपर से जीवन से लदे बादल

मुझ से पूछते हैं—दूँ, दूँ ? नीचे से नदी और नद, पुष्करिणी और पुष्कर मेघों की प्रतिध्वनि की तरह पूछते हैं—दूँ, दूँ ? मगर, हाथ फैलाने में, लेने में, माँगने में मुझे लाज लग रही है। आह ! मुझे प्यास लगी है !....”

इतने में धम्म से कुछ गिरने की आवाज़ उसके कानों में पड़ी। उसने मुड़कर पीपल की ओर देखा। देखा, मूर्तियों के सामने कोई दुबला, हड्डीला, रूखा और लम्बा आदमी पागलों की तरह खड़ा था। उसके सर के बाल अस्त-व्यस्त, उसकी आँखें खूनियों-सी और मुख के भाव भय-प्रद थे ! गदाधर की मूर्ति पीपल की जड़ से बीस हाथ की दूरी पर औंधी पड़ी थी। शायद उसी ने उसको उठाकर फेंक दिया था। हाँ-हाँ उसी ने—क्योंकि, वह दूसरी मूर्ति भी उठा रहा था—फेंकने के लिए। वह ! हनूमान की मूर्ति भी धम्म से उसने दूर फेंक दी ! वह ठठाकर हँसने लगा, पागलों की तरह।

बैशाख की दोपहरी में, नारायणी के तट पर, पीपल के नीचे उस विचित्र व्यक्ति को दूसरा कोई भी देखता तो बिना डरे न रहता। मगर मानिक डरा नहीं। अपने स्थान से उठकर वह उसकी ओर बढ़ा।

“यह क्या करते हो ? मूर्तियों को फेंकते हो ? उठाकर उन्हें फिर जहाँ का तहाँ रखो, नहीं तो कोई दूसरा हिन्दू देखेगा तो बिना तुम्हारी दुर्गति बनाये न रहेगा।”

मानिक की बातें सुनकर वह उसके निकट चला आया। सिर से पैर तक उसको गुरेरने लगा—बड़ी-बड़ी आँखें निकाल कर !

“तुम कौन हो ?”—मानिक ने पुनः पूछा।

“पारसनाथ ”—उस अधेड़ उन्मत्त ने उत्तर दिया।

“ठीक है,”—मानिक ने कहा, “होगे तुम पारसनाथ ; मगर

इन मूर्तियों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ! इन्हें इस तरह फेंककर अपमानित क्यों कर रहे हो ? तुम कैसे हिन्दू हो जो देव-मूर्तियों को भ्रष्ट कर रहे हो ?”

“मैं हिन्दू नहीं हूँ, पारसनाथ हूँ । मैं ठाकुर पारसनाथ सिंह हूँ ।”

“पागल है क्या !”—मानिक ने अर्द्ध-स्वगत भाव से कहा । मगर, उस उन्मत्त ने उसकी बातें सुन लीं ।

“हाँ, हाँ, तुम मेरा नाम जान गये । इलाहाबाद वाले मुझे वही कहते हैं, मुन्शीगंज वाले भी वही कहते हैं । मैं हिन्दू नहीं, पारसनाथ हूँ । पारसनाथ भी नहीं, पागल हूँ । भागो—भागो ! हू-हू-हू—हा-हा-हा—मैं पागल हूँ !”

पागल को बकता छोड़, मानिक फेंकी हुई मूर्तियों की ओर बढ़ा, उन्हें उठाकर यथास्थान रखने के विचार से । पारसनाथ समझ गया उसकी उस इच्छा को । वह झपटकर उसके पास आया—

“खबरदार !”

“क्यों ?—हटो !”

“मैंने उन्हें फेंका है—तू उठाने वाला कौन ? जानता नहीं, मैं शराबी हूँ ? इस वक्त नशे में हूँ । जानता नहीं, मेरी लड़की ब्याही जाने को है ? पन्द्रह बरस की हो गई है । जानता नहीं, गाँव-भर मेरी ओर अँगुली उठाता है ?”

“ऊफ़ !”—मानिक खीझा, “निपट पागल है । अरे लड़की के ब्याह और मूर्तियों को फेंकने से क्या सम्बन्ध है ? जाकर कहीं छिप रहो—मेरी बात मानो । नहीं तो शाम तक पागलखाने में भर दिये जाओगे ।”

“धत्···”—बावला बोला, “मैं वैसा पागल नहीं हूँ, जिसे डाक्टर और पुलिस पहचान सकें । चार आदमी का सामना

होते ही मैं पारसनाथ हो जाता हूँ। एकान्त होते ही मैं पागल हो जाता हूँ। एकान्त में अखिल विश्व जैसे घृणाभरी आँखों से मुझे घूरने लगता है। काली स्मृतियाँ पिशाचिनियों—सी मेरे चारों ओर नाचने लगती हैं। वे धिक्कारती हुई मुझे सुनाती हैं—यह पारसनाथ है। यह अपने भविष्य को भूलकर शराब पीता था। इसकी एक लड़की है, जो अब है भी या नहीं इसको पता नहीं। वह ब्याहने योग्य हुई, मगर यह पियक्कड़ उसे ब्याह न सका। सारी सम्पत्ति तो इसने शराब में उड़ा दी, लड़की को ब्याहता कैसे। नगर वाले इसे देखकर लज्जा से गड़ जाते हैं और यह बेहयाई की हँसी हँसता है। पड़ोसी इसे देखकर नाक सिकोड़ते हैं, नफरत से; यह मुस्कराता है, बेशर्मी से। लड़की इसकी बिना ब्याही, बेचारी, निकल गई। न जाने किसके साथ।” जैसे पारसनाथ पुनः भभक उठा, कुछ सोचकर—“धत्—धत्—धत् ! मेरा पश्चात्ताप मुझे मारे डालता है। मेरी इज्जत डूब गई है। मेरी एकमात्र, गऊ—सी भोली लड़की मुझे अपमान और चिन्ता से छुड़ाने के लिए न जाने कहाँ भाग गई है। मैं पागल की तरह उसे ढूँढ़ता हूँ—शहर-शहर में, गली-गली में, उसका नाम ले-लेकर पुकारता हूँ।”

मानिक को आश्चर्य-चकित छोड़ वह भटके से एक ओर बढ़ा—बकता हुआ।

“डेढ़ बरस से वह गायब है; डेढ़ बरस से मैं चारों ओर उसको ढूँढ़ रहा हूँ। जैसे अपार पारावार में भटकी हुई नाव किनारा ढूँढ़ती है।”

“सुनो तो……”—मानिक ने उसका पीछा करते हुए पूछा उससे, “नाम क्या है तुम्हारी लड़की का ?”

“ओह !”—भागता हुआ वह बोला, “उसका नाम प्रेत की तरह मेरे पीछे पड़ा हुआ है। यह देखो, इधर है, वह देखो, उधर

है। मेरी चारों ओर उसी का नाम डेढ़ बरस से नाच रहा है। तुम देख लो, पढ़ लो—मैं अपने मुँह से नहीं बताऊँगा उस नाम को। तुम हँसोगे, मेरा अपमान करोगे।”

वह तीर की तरह भाग चला, बिना लड़की का नाम बताये। मानिक ने निराश होकर और निरा पागल समझकर, उसका पीछा करना छोड़ दिया।

पारसनाथ सिंह मुन्शीगंज के रहने वाले, ऊँचे क्षत्रिय हैं। ज़माना था जब उनके बाप के क़ब्ज़े में आधा मुन्शीगंज था। उनका तीन खण्ड का पक्का, पुराने क़िले का, मकान देखने से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उसका निर्माता ज़रूर कोई असाधारण श्री-पात्र रहा होगा।

पारसनाथ लड़कपन में अक्सर शराब पीते थे। वह इस तरह कि उनके पिता बड़े शौकीन और विलासी थे। वह रोज़ भोजन के साथ या पहले अथवा बाद—जैसी जब मौज हुई—बोतल का सेवन करते थे। पारस की माँ उनको छोटा ही छोड़कर मर गई थी, अतः उनके पिता ने अपने रिश्ते की एक गरीब विधवा को अपने यहाँ टिका रखा था। वह जब तक मर नहीं गई, पारसनाथ के पिता की गृहस्थी के आटा-दाल की मालकिन तो रही। मगर ताली के उस गुच्छे की नहीं, जिसकी सहायता से पारसनाथ के पिता की प्रियतमा पेया के पैसे सन्दूक के बाहर निकलते थे।

मुन्शीगंज वाले इस बात को जानते थे कि पारस के पिता उस विधवा क्षत्राणी से केवल आटे-दाल का भाव ही नहीं पूछते थे, बल्कि, कुछ और भी करते थे। पारस के घर की ख़वान कहाड़िन ने सारे क़स्बे में यह डौँड़ी पीट दी थी कि उनके पिता ने उस विधवा को रखा है। वह मटक-मटककर, मानों कोई बड़ा भेदोद्घाटन कर रही हो ऐसा मुँह बनाकर, अपने जानकारों, मित्रों और पड़ोसियों को बताती—

“ऐसी राँड का मुँह जले ! दिन में तो सुलच्छनी बनती है, एकादशी मानती है, आँख मूँदकर, ऊपर मुँह उठाकर, मन-ही-

मन बुदबुदाती हुई सूरज देवता से अपने मरे आदमी के लिए बैकुण्ठ माँगती है। लेकिन रात हुई कि उसने केंचुल बदली। माँग सँवार, चोटी सुधार, सुरंग सारी पहन, आँखों में काजल और ओठों पर पान की रेखा सजाकर वह ठाकुर को खिलाने-पिलाने बैठती है। ओह ! बाबा बासदेव की दोहाई ! मैंने इन्हीं आँखों से देखा है। ठाकुर उसको अपनी प्लेथी पर बैठाकर गले में हाथ डालकर, अपने हाथ से उसके मुँह में रोहू की कलेजी डालते थे !”

मुन्शीगंज वालों की तो उस कहारिन पर भी सन्देह था। विधवा क्षत्राणी से अधिक वहाँ वाले, कहारिन को पारसनाथ के पिता की चहेती मानते थे। अक्सर कहारिन का पति बारह-बारह बजे रात को उसको बुलाने के लिए ठाकुर के घर जाता। अक्सर वह लौटते वक़्त रास्ते में उसको डाटता जाता—“हरामजादी ! जल्दी छुट्टी लेकर नहीं आ जाती। वहाँ बैठी-बैठी यह-वह किया करती है। एक दिन तेरी नाक काट लूँगा।”

मुहल्ले वाले कहार की ये बातें सुनते और मन-ही-मन गम्भीर और प्रसन्न होते। गोया कहारिन और ठाकुर का भेद उन्हें बड़ा अनमोल मालूम पड़ता। वे आपस में फुसफुसाकर उसकी चर्चा करते और पारस के पिता तथा कहारिन को छिछले पानी में थहाते। मगर यह सब पारसनाथ के पिता के जीवन-भर एक रूप से होता रहा। न तो उनको हलका या चरित्र-हीन समझने वालों ने आधे मुन्शीगंज के ज़मींदार को सलाम करना बन्द किया और न कहार ने अपनी कहारिन की नाक ही काटी।

पारसनाथ आरम्भ में छिपाकर शराब पीते थे। जब उसके पिता इधर या उधर हो जाते तब वह खुली बोतलों पर छापा मारते। पहले ध्यान से देख लेते कि कितनी शराब है। फिर इच्छानुसार पीकर, बोतल में उतना ही पानी मिला देते। पारस

के पिता को कुछ ख़बर भी न होती। और ख़बर होने पर भी वह उनको वैसा करने से न रोकते। क्योंकि, त्योहारों पर तो वह स्वयं उनको पीने देते थे। उनका कहना था कि क्षत्री के लिए शराब और माँस बुरी चीज़ें नहीं।

मगर पारस की जब शादी हुई, उनकी पत्नी घर में आई तब उन्होंने शराब बिलकुल छोड़ दी। उनको पत्नी पवित्रता और धर्म के उपासक किसी पुराने क्षत्रिय की दुहिता थीं। उन्हें जब एक दिन पारस पिये हुए मिले तो बड़े प्यार से, दया से, दारू का उन्होंने विरोध किया। वह इतनी सुन्दरी, सरल, सुशीला थीं कि पारस उस पर मुग्ध थे। उन्होंने उसकी इच्छानुसार तुरन्त मदिरा का त्याग कर दिया।

क्रमशः पहले पारस के पिता परलोक-वासी हुए—सारी सम्पत्ति छोड़कर, फिर वह विधवा क्षत्राणी मरी—बदनामी छोड़कर और एक दिन अचानक उनकी प्रियतमा भी चल बसी—सात बरस की एक लड़की छोड़कर। यह सब देखते-ही-देखते हुआ। मरने के पूर्व उनकी प्राणप्यारी ने हाथ जोड़कर उनसे कई प्रार्थनाएँ कीं। एक यह कि वह दूसरी शादी न करेंगे। विमाता आयेगी तो बच्ची को तकलीफ़ होगी। वह अपनी नूतनता का जादू डालकर पारस को पागल कर देगी, कर्तव्य-च्युत कर देगी और उस प्यारी बच्ची को भूल जाने के लिए विवश कर देगी। दूसरी बात यह कि वह दारू न पियेंगे। तीसरी, उसकी उन मूर्तियों की, जिन्हें स्वयं उसने घर में पूज रखा था वह स्वयं पूजा किया करेंगे।

पारसनाथ बहुत दिनों तक उदास रहे। घर उनका उनको भयानक लगता, सायँ-सायँ करता, उस प्रेम-पुतली के बिना। वह उसको बहुत याद करते...बहुत सोचते। उनका जीवन मरुस्थल-सारूखा, ज्वाला-मय, अ-जीवन हो गया। वह अपनी पत्नी की

प्रार्थनाएँ न मान सके। दो-चार महीने, उजड़े मन से, घर में बसे देवताओं की उन्होंने पूजा की; मगर, फिर वह उन्हें ढोंग और भार मालूम पड़ने लगी। वह काम उन्होंने उस छोटी बच्ची के सिपुर्द किया। और स्वयं शराब-सेवा पर उतारू हो गये।

आरम्भ में राम-गलत करने के नाम पर, एक-एक दिन का नागा देकर, वह पीते और चुपचाप अपने एकान्त और पक्के श्मशान में पड़े रहते। एक नौकर था, वह घर की सफाई करता, बरतन माँज देता और लड़की कच्ची-पक्की रसोई तैयार कर देती। उनकी लड़की अपनी माँ ही की तरह सीधी, सुन्दर और मोहिनी थी। छोटी होने पर भी अपने पिता की परिस्थिति को वह समझने लगी थी। जब वह उदास रहते तब उसका मुँह भी कुम्हँला जाता। जब वह प्रसन्न रहते, चाहे शराब के भोंक ही में सही, तब वह फूली न समाती। वह ख़ूब प्रेम से अपनी माँ की मूर्तियों की पूजा करती—विधि से उन्हें नहलाती, फूल चढ़ाती, नैवेद्य लगाती, आरती उतारती और अन्त में पृथ्वी पर माथा रखकर धीरे-धीरे बुदबुदाकर न जाने क्या माँगन माँगती। कई दिन, यह जानने के विचार से कि वह किस तरह देवताओं से व्यवहार करती है, पारस ने छिपकर उसकी वे भक्ति-भावनाएँ देखीं। वह अकसर गद्गद हो जाते, बच्ची के सुकुमार भावों पर। उन्हें ऐसा लगता जैसे उसकी स्वर्गीय माता ही लघु-रूप बनाकर देवताओं के लिए और पारसनाथ के लिए पृथ्वी पर उतर आई है।

“क्यों बेटी!”—एक दिन छिपे-छिपे अपनी पुत्री की देव-पूजा देखकर, भरकर, पारस ने पूछा, “तू माथा टेककर बुदबुदाती क्या है? तुझे चाहिए क्या? ब्याह और वर माँगती है?”

“नहीं बाबा,”—उन्होंने देखा बालिका छलक उठी। “मैं ठाकुर जी से माँगन माँगती हूँ कि आप प्रसन्न रहें। आपकी

छासी दूर हो ।”

“धत्, धत् !”—उसे गोद में उठाकर चूमते हुए पारस ने कहा, “अभी से ही पुरखिन हो गई !”

मालूम नहीं बालिका की प्रार्थना और तपों के वरदान से या उनकी स्वर्गवासिनी पत्नी के अभिशाप से पारसनाथ की प्रसन्नता बढ़ने लगी। मगर, शराब की हवागाड़ी पर चढ़कर। वह धीरे-धीरे पीते-पीते पियक्कड़ हो गये। फिर गली और कूचों में भाँकने भी लगे। इस तरह पत्नी की प्रायः तीनों प्रार्थनाएँ उन्होंने ठुकरा दीं।

उनके पिता भी पीते थे, पर तालियों का गुच्छा अपनी टेंट में सँभालकर ! उन्होंने अपनी आमदनी और पैतृक सम्पत्ति बढ़ाई नहीं, पर नष्ट भी नहीं की। लेकिन यह बुद्धि पारस में कहाँ। उन्होंने चार बरस की ऐग्याशी और आराम में अपनी सम्पत्ति, काशकारी-जमींदारी, इस तरह नष्ट कर दी जैसे शराब बुद्धि को नष्ट करती है। अब उन्हें दिन भर शराब, रात भर शराब चाहिए तो, मगर पैसे नहीं रह गये। अब लड़की भी ब्याह की अवस्था पर आ गई—मगर पैसे नहीं। इतने पर भी उन्हें नशीली शराब अधिक प्यारी लगी, पुत्री के विवाह से। अब की घर गिरों रखकर और ज़रा सावधान भाव से, साल भर उन्होंने और मजे किये। इन्हीं दिनों उन्होंने लड़की के ब्याह की चेष्टाएँ भी कीं। इधर दौड़े, उधर दौड़े। कहीं नाई को भेजा, कहीं ब्राह्मण को। मगर वह चारों ओर बदनाम हो गये थे। उनके उजड़ने की खबर अखबारों में न छपकर भी उस प्रान्त में ख्यात हो गई थी। पहले तो कोई प्रतिष्ठित ठाकुर उनके यहाँ सम्बन्ध करने पर राज़ी ही न होता, फिर, कोई होता भी, तो यह कहते हुए कि—“आप तो फलाने के खानदान के हैं। आप से इतने हज़ार रुपये तिलक में और इतने हज़ार दहेज में मिलने चाहिए। आप ही

सोचें, आपके ब्याह में आपके पिता ने कितना लिया था ? इतने हजार, इतने सौ, कितने रुपये ? लड़के के ब्याह में जो खानदान जितना पाता है या लेता है लड़की के ब्याह में उस खानदान को उतना देना भी पड़ता है ।”

मगर, अब पारस के पास इतने रुपये थे कहाँ ?

हीरा के पति का ज्ञान स्त्री-जाति के बारे में उतना ही था जितना हमारे समाज के निन्नानवे फ्री-सदी लोगों को होता है। उसने समझ रखा था कि स्त्री खाने और कपड़े के दामों पर, मुफ्त के माल की तरह लूट लेने की चीज़ है। स्त्रियों का केवल यही कर्त्तव्य है कि जिसके हाथों बिकें उसके लिए, उसके परिवार के लिए, उसके संसार के लिए, अपने तन-मन के लहू की एक-एक बूँद गार दें। मीठा कर्त्तव्य समझकर, मुस्कराती हुई।

वह मन-ही-मन प्रत्येक ब्याहे पुरुष को बादशाह समझता था और उसकी पत्नी को अनबोलती, मूर्खा, मोहिनी चेरी। बादशाह को यह अधिकार है—और वैध और ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है—कि उस चेरी को अपनी इच्छानुसार नाच नचावे। जी में आवे प्यार करे, या तिरस्कार। खुश रहे तो चारुमुखी माने, रूठे तो चाण्डालिनी। उसके देह-देश के जिस प्रान्त में चाहे, कर-जाल पसारकर वहाँ का रस लूट ले। जब चाहे तब लूटे—जितना चाहे उतना लूटे। चेरी के मरने-जीने का विचार किये बिना।

और यदि चेरी कभी विद्रोह करे, आशोल्लंघन करे, बादशाह के विचारों से असहमत हो, तो, फौरन, उसका शासन उस हाथ से किया जाय जिसे राजनीतिक पण्डित 'फौलादी हाथ' कहते हैं। वह मानता था कि पति का अपमान ही—चाहे जैसे भी हो—स्त्री के लिए मौत की सज़ा है। क्योंकि उसने सुन रखा था कि समाज-नीति के पिनलकोडों में यह लिखा है कि अन्धा हो, बहरा हो, कोढ़ी हो, कदर्य हो, लंपट हो, लुंगेड़ा हो, पर "ऐसेहु पति कर किय अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना।"—स्त्री

को वसुन्धरा की तरह निरीह बनी रहना चाहिए। ऐसी ही बनी रहने के लिए वह बनायी गई है।

उसको पहली स्त्री, उसकी भाभियों के मतानुसार, उसके 'कौलादी हाथों' ही में पड़कर, बरबस, नाना दुख पाने के लिए यमपुर चली गई। वह बेचारी दुबली और पतली चमेली की कली-सी थी। हवा से उसको धक्का न लग जाय—उसे देखकर यह चिन्ता होती थी। उसे निहारने पर विचार होता गोया वह केवल देखने के लिए बनायी गई थी, छूने या भोगने-ब्याहने के लिए नहीं।

मगर, उसको उमने दल-दल, मल-मल डाला। 'पानी दे जा !'—पुकारकर ग्यारह बजे जो वह कोहबर में घुसता तो सन्ध्या के पहले बाहर मुँह न दिखाता। वह गिलास भर-भरकर देती रहती, वह दानवों की तरह घट-घट करता रहता। पानी देती-देती वह खून-खून हो जाती; मगर उसकी प्यास दून-दून हो दहकती रहती। देखते-देखते वह पति के नाम से डरने लगी। जैसे पुण्यात्मा पाप से डरे। वह उसका अपमान नहीं कर सकती थी—उसमें अपने प्राणों की रक्षा के लिए हृद् विरोध करने की तीव्रता भी नहीं थी—परिणामस्वरूप शीघ्र ही उसका स्वास्थ्य गिरने लगा और देखते-देखते ब्याह के दो वर्षों के भीतर ही उसके प्राणों का बाजार उठ गया। उसके कलेजे में फोड़ा हो गया था !

दूसरी स्त्री हीरा की फूल-सेज पर सोने के लिए, अपनी छोटी भाभी से नकली ना-ना करता हुआ, वह उस कोठरी में ठिल आया। साँकल बाहर से चढ़ गई, हारा के हिये की तरह भ्रन से बोलकर। वह मन-ही-मन महा मगन हो उठा। नयी चेरी या प्यारी या औरत या पत्नी से मिलने के लिए वह बेहद बेक्रार था। क्योंकि, पालकी में जिस परिपक्वता की भाँकी उसको

मिली थी वह सहज ही भूलने की चीज नहीं थी ।

उसने देखा, सेज सजा है और सेज की सजनी भी कम सजी नहीं है । उसकी देह पर बादामी रंग की सुकुमार साड़ी है, जिसमें गठरी की तरह लिपटकर पल्लंग के एक कोने में वह पड़ी है । साँस उसकी जोर-जोर से चल रही है, यह भी उसने एक ही नज़र में ताड़ लिया ।

पास जाकर उसने हीरा के फड़कते दाहने हाथ पर अपना हाथ रखकर दबाया—वह चमक पड़ी । जैसे आग छूकर बालक चमके । वह छटककर पल्लंग के पायताने जा पड़ी—और भी सिकुड़कर । पल्लंग पर चढ़कर दोनों बलिष्ठ बाहुओं से उसने हीरा को उठाकर बैठा दिया । जैसे पहलवान किसी छोकरे को पहुँचे पकड़कर ज़बरदस्ती अपने सामने बैठाये । मगर, घूँघट उसका लम्बा था, गर्दन झुकी ।

आगे खींचकर उसने उसका घूँघट खोला—मगर, यह क्या ! वह रो किस लिए रही है ? हैं—हैं !

“रोती क्यों हो ?”—धीरे से उसने पूछा ।

“मुझे जाने दो,”—धीरे ही से, मगर जी-जान से हीरा ने कहा, “मैं बहन के पास सोऊँगी । माँ के पास रहूँगी ।”

“वाह रे !”—भरपूर जोर से हीरा को छाती से छोपकर उसने कहा—“वाह रे !”

“अरी माँ !”—वह इतनी जोर से चिल्लायी जैसे लड़के ने भूत देख लिया हो !

बाहर से स्त्री-सुलभ किलकिलाहट सुनाई पड़ी । हीरा की छोटी जेठानी अभी थी दरवाज़े के पास !

जेठानी बाहर खड़ी है यह अनुभव कर, मारे लाज के वह भीतर-ही-भीतर गड़ गई । एक बार उसकी बुद्धि पुनः जाग उठी । उसको अपने पूर्व विचारों से ज़रा फुर्सत मिली । वह पुनः

सोचने लगी कि अब वह हीरा नहीं, जो रतनपुर की लड़की थी। वह बेचारी तो ब्याह होते ही मर गई। यह नयी हीरा है—यह स्वाधीन नहीं, पराधीन है। यह अपने हृदय की स्वामिनी नहीं, दुनिया की सुप्रथा (!) की दासी है। अब तो यह उस व्यक्ति के हाथों जिसे रतनपुरवाली ज़रा भी नहीं चाह सकती, फूटे कर्म की रेख में बँधकर बिक गई है। इसे विरोध का अधिकार कहाँ। ओह ! माँ ने क्या बताया था ? यही तो—यही तो !

वह चुप—स्तब्ध रही। उसका पति उसे सहलाता और प्यार करता रहा। वह वासना से पागल की तरह उसके साथ खेलता रहा और हीरा गुड़िया-सी निर्जीव, ठण्ढी, उसकी गोद में बैठी रही। जैसे समाधिस्थ योगिनी !

पारसनाथ के पैसे चुक गये, उनकी जवानी भी चुक गई, पर पीने की हविस उनके दिल की न चुकी। उनकी लम्बी, बलिष्ठ देह घुल गई, गाल पिचक गये, छाती की हड्डियाँ बाहर झाँकने लगीं, पीठ की रीढ़ दो अँगुल ऊपर निकल आई, आँखें गढ़े में धँस गईं। उनका चमकता गोरा रंग, शराब की आँच में भुनकर, चिन्ताओं से झुलसकर, जल-बुझे ताँबे-सा हो गया, मगर, वह फिर भी पीते गये—पीते गये। वह करते ही क्या, यह कौन नहीं जानता कि मुँह की लगी हुई मदिरा नाम्नी यह काली जोंक कभी छूटती ही नहीं।

जब सारी सम्पत्ति स्वाहा हो गई, मकान भी गिरों हो गया, तब वह घर के वसन-वासन पर उतरे। जहाँ देखते कि लड़की इधर या उधर गई है, फौरन फूल का बड़ा लोटा, या दससेरी बटुआ अथवा ताँबे का हण्डा उठा भागते। सीधे कलवरिया में जाते और उस बरतन के बदले में जितनी घँट शराब की पा सकते—ले पीते। इसके बाद जब उनकी लड़की इस या उस चीज के खो जाने की चर्चा उनसे करती तब वह अर्द्ध उन्मत्त भाव से उत्तर देते, “कुत्ता उठा ले गया होगा, बेटी।”

“कुत्ता क्या ताँबे वाला बड़ा हण्डा उठा ले जायगा, जिसे मैं नहीं उठा सकती थी?”—वह पूछती।

“हाँ बेटी!”—वह उत्तर देते, “बुरे दिन जब आते हैं, तब ऐसा ही होता है। तूने सुना नहीं—भा बिधना प्रतिकूल जबै, तब ऊँट चढ़े पर कूकुर काटे!”

कलवरिया के कलाल से पारस की जान-पहचान ही नहीं, मित्रता भी थी। पहले तो वह बन्द बोतल वाली पीते रहे, मगर

जब से ऐसे घटे तब से कलवरिया-प्रेम उनका बढ़ गया। पहले वह दस-दस दोस्तों के साथ, नवाबी दस्तरखान सजाकर बैठते, कोर्मा होता, कलिया होती, पुलाव-दोप्याजों की तश्तरियाँ होतीं और रात-रात भर बोतल के काग फटा-फट खुलते रहते। उन वस्तुओं के सामने पारसनाथ के दोस्त ऐसे दिलदार दिखाई पड़ते गोया कृष्ण और अर्जुन के ज़माने के मित्र हों। पर ज्यों-ज्यों पारस का रूप बिगड़ता गया, त्यों-त्यों—दस्तरखान के सामान के साथ-साथ—दोस्त भी कम होते गये।

जब वह घर बेचकर कलवरिया की ड्योढ़ी नापने लगे तब तो उनके उन्हीं दोस्तों ने उनसे घृणा करना आरम्भ कर दिया। वह इधर या उधर लोगों से उनकी शिकायत करते फिरते—छिः ! ऐसा भी आदमी ! महीनों उसके साथ रहकर हमने हज़ार समझाया कि अरे पागल यह शराब है—खराबी की माँ। इसे गले न लगा, नहीं तो उजड़ जायगा। मगर, वह तो नशे के पीछे बेहया हो गया है। पन्द्रह बरस की उसकी लड़की हुई। किसी भले घर में होती, तो अब तक एक-दो बच्चों की माँ हुई होती; मगर, इसे फिकर नहीं।

जब तक पारस दावतें दे सकते थे, तब तक ऐसा कुछ नियम था कि दस दावतें खा लेने के बाद उनका कोई-न-कोई दोस्त उन्हें अपने घर पर भी दारू-दावत देता। पर, अब दोस्तों के यहाँ जलसे होते लेकिन उन्हें कोई न पूछता। दोस्त अब उन्हें देखकर इस तरह रुख बचाते, आँखें फेर लेते, जैसे कोई अध-शरीफ शौक्तीन आम रास्ते में अपनी किसी पुरानी वेश्या या रखेली को देखकर आँखें चुराये ! ऐसे वक्तों पर वह आह खींच-कर, लहू घूँटकर, रह जाते !

मगर, उनकी उन आहों का जीवन क्षणिक से ज़रा भी अधिक न होता। चार गज आगे बढ़ते ही दोस्तों की बेवफ़ाई

भूल जाती और मजे के गुजरे दिन याद आ जाते। वह पुरानी शराबों और दावतों के लिए मन-ही-मन पागल हो उठते। और तुरन्त कलवरिया में जा पहुँचते। कलाल से कहते, वह उन्हें पीने दे, बदले में कोई बरतन या गहना उसको वह दे जायँगे, मौका पाते ही। कलाल उन्हें देता और वह चार चने के चखने पर, दोस्तों और दावतों आर दस्तरखानों की खबियों को भूल, कड़ी, देशी, दारू पीते हैं।

दिन-दिन भर प्रायः वह घर से गायब रहते। क्योंकि घर में पाँव धरते ही उनका सारा नशा हिरन हो जाता। उन्हें अपनी पूर्व-प्रतिष्ठा और विभूतियाँ याद आ जातीं। उनकी आँखों के आगे उनका वर्तमान और भविष्य भयानक रूप बनाकर थिरकने लगता—जैसे श्मशान में प्रेत। वह सबसे अधिक अपनी लड़की के बारे में सोचते। मगर, उनमें चरित्र-बल नहीं था। बुराई को बुराई समझते हुए भी जो व्यक्ति उससे तोबा नहीं करता वह धीरे-धीरे देहाती, चोर कुत्ते-सा हो जाता है, जिसे-ढाई-ढाई पग पर अपनी दुर्दशाएँ भूल जाती हैं। जो लात और डण्डे खाता है, मगर, पुनः तुरन्त ही, मौका पाने पर किसी के घर में घुसकर कुछ सूँघने-साँघने लगता है। फिर अपमानित होता है, फिर वही काम करता है।

एक बार वह पीये हुए, लड़खड़ाते चले आ रहे थे। शाम का वक्रत था। मुहल्ले के लोग अपने-अपने दरवाजे पर बैठ गप-शप कर रहे थे। उन्हें देखकर उन्होंने बातें बन्द कर दीं—मारे घृणा के !

“नाश हो इस शराब का !”—एक बूढ़े ने कहा।

“मुँहजले ऐसे शराबियों का जो अपने खानदान की ओर जात की इज्जत ताक पर रखकर कुत्ते का मूत पीते हैं।”

नशे में तो थे ही पारसनाथ। उनका दिल तो अपनेसे, पराये

से, मुन्शीगंज और दुनिया से कुढ़ा था ही। मुहल्ले वालों की बातें उनके कलेजे में तीर-सी चुभकर रह गईं।

“ए, ए शराफत के ठेकेदारो !”—उन्होंने एक ही भाव में सबको तौला, “मैं किसी के बाप का नहीं पीता और न किसी के बाप की इज्जत खराब करता हूँ। खबरदार ! अब से बाद मेरे सामने ऐसे ताने न देना। नहीं तो ठीक न होगा। हूँ !”

“जाओ, जाओ !”—एक बूढ़े ने कहा, “यह ताव उसको दिखाओ जो तुम्हें जानता न हो। ठीक हो या न हो, जो कहने लायक बात होती है, दुनिया कहती है। तुम्हें तो—बाबू साहब !—डूब मरना चाहिये ! पठिया-सी जवान बेटी तुम्हारे नाम को घर में बैठी रो रही है। उसकी आबरू कच्चे धागे में लटक रही है और तुम डींग की लेते हो। छिः, शरम भी नहीं मालूम पड़ती !”

“शरम कैसी—शरम कैसी !”—बुड़्डे की ओर झपटते हुए उत्तेजित पारसनाथ ने कहा, “किसी के घर पर डाका डाला है ? किसी की बहू-बेटी उद्गार लाया हूँ ! मैं कह रहा हूँ...” तड़, तड़ तीन तमाचे उस वृद्ध के रूखे मुँह पर दुर्गन्धित पारस ने जमाये, “मैं कह रहा हूँ; मेरे मुँह न आया करो—हाँ !”

इस पर मुहल्ले के सभी पारस के विरुद्ध हो गये। देखते-देखते हंगामा मच गया। बूढ़े के जवान लड़के घर से निकल आये। ले-दे की ठन गई।

“साले !”—लड़कों ने पारस को गालियाँ दीं, “दिन-दिन भर सारे गाँव के हवाले अपनी जवान छोकरी को छोड़कर कलवरिया में पड़ा रहेगा। गाँव के आवारे मुहल्ले में आकर इसके दरवाजे पर चक्कर काटेंगे, इसकी बेटी से बोली-ठोली बोलेंगे, मुहल्ले को बाज़ार बना देंगे और इस पर कोई कुछ कहेगा तो यह कुत्ते की तरह काड़ेगा ! होश में रहा करो बच्चू ! नहीं तो, एक दिन मारते-

मारते तुम्हारी आदत छुड़ा दी जायगी !”

बूढ़े के लड़कों ने पारसनाथ की अच्छी खबर ली। कई तमाचे, कई घूसे, कई लात जमाये। वह तो मुहल्लेवालों ने बाद में छुड़ा दिया। नहीं तो, क्या जाने क्या हो जाता। पारसनाथ भी क्रोध से पागल थे।

वह मुहल्ले में पिटकर घर आये। उनकी लड़की रसोई में बैठी गीली लकड़ियाँ और उपलों से उलझ रही थी। फूँकते-फूँकते उसकी आँखें लाल हो गई थीं; पर वे जलने का नाम नहीं लेते थे।

आहट पाकर उसने रसोई के बाहर भाँककर देखा—पिता थे। बाल बिखरे, आँखें चढ़ीं, मानों खून किये आ रहे हैं। वह चूल्हा ढोड़कर उनके सामने आ खड़ी हुई।

“रसोईघर में क्या कर रही थी ?”—गुराँकर पारस ने उससे पूछा।

“दाल और रोटी बना रही हूँ।”

“आटा कहाँ से मिला ? दाल कहाँ से आई ? घर में तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी। सामान तो कल ही से चुका हुआ है।”

“राजन् की माँ से दस सेर गोहूँ मैंने माँगकर उनके लिए दिन भर में पीस दिया था। बदले में आज-भर को आटा और दाल...”

“पाजी...पाजी !”—पारसनाथ बिगड़े, “तू मुहल्ले में मेरी इज्जत बेचा करती है ? लोगों के घर अब तू पिसौनी करेगी ? चुपचाप घर में बैठा नहीं गया। मेरे मुँह में कालिख पोतती है ?”

लड़की सन्नाटे में आ गई। हजार नशे की हालत में होने पर भी पारस उस पर इस तरह नहीं बिगड़ते थे। उन्होंने तो उसे कभी एक कच्ची बात भी नहीं कही थी। मामला क्या है ?

“बाबू जी...” —चाहकर भी वह कुछ न बोख सकी।

“चुप !”—वह रसोईघर में घुस गये । दाल की गरम बटलोही उठाकर उन्होंने उसे चूल्हे में उलट दी । रोटी के लिए गुँथे आटे को लात से रौंद-रौंद डाला । “मैं ऐसी रोटी खाऊँगा ? अब मैं इतना गिर गया हूँ ?”

वह फिर लड़की के सामने आये । वह सर झुकाये दीवार से लगी टपाटप आँसू बहा रही थी । हाथ लगाकर उन्होंने उसका मुँह ऊपर उठाया—

“मेरी ओर देख ! जब मैं घर में नहीं रहता तब कौन यहाँ आता है ? कौन आता है—कौन आता है ?”

लड़की का स्वर्ण-मुख अभाग्य पारस के स्पर्श से कोयला काला हो गया । मालूम नहीं भय से या लज्जा से वह कुछ कह न सकी । चुप रही और रोती रही ।

“बोलती नहीं—अरी कलमुही बोलती क्यों नहीं ?” तड़ातड़ वह उस बेचारी का मुँह पीटने लगे—“आज मैं तेरी जान लेकर अपनी दे दूँगा ।”

“कुन्दन !”—उस दूकानदार ने पूछा जिसके यहाँ वह सुबह-सुबह दस-दस के नोट लेकर पहुँची—“आज तो खास रंग नजर आ रहा है। तड़के ही बीस के नोट तुम्हें कौन दे गया ? कोई नया चंडूल या पुराना चपरगट्ट ?”

“तुमसे वास्ता ?”—कुन्दन ने अपनी बुढ़ींती में चमककर ताने से उत्तर दिया, “तुमने तो कभी कुन्दन को फूटी कौड़ी भी नहीं दी। चलो, ज़रा जल्दी करो। जैसा मैंने कहा, एक जोड़ी मखमली पाद की बढ़िया ज़नानी धोती निकाल दो। किनारा ज़रा चौड़ा हो और काला।”

“ओ हो !”—दूकान की ताली लेकर दो-छत्ती के नीचे उतरता हुआ दूकानदार बोला, “इस उम्र में मखमली पाद पहनोगी ! क़सम खुदा की ! कुन्दन, तुम अपने इसी दिल की वजह से तबाह हो गई हो। वैसे तो पैसा-पैसा को परीशान रहती हो। लेकिन आज कहीं से कुछ मिल गया तो मखमली पाद ही चाहिये कुन्दन बी को !”

“अरे मुझे नहीं चाहिये, भले मानस !”—कुन्दन ने समझाया उसे, “मेरे पास अब इतने पैसे कहाँ। मुझे तो, जब तक जीती हूँ तब तक, रूखी रोटी और मरने पर मोटिया का कफ़न मिल जाय तो समझूँ बैकुण्ठ मिल गया। मेरे तन पर यह जो फटी और मैली बिनकिनारी लुगड़ी देख रहे हो वही बहुत है, और मुझे बहुत प्यारी है। ये धोतियाँ मेरे एक मिहमान की हैं।”

“मिहमान—ज़नानी धोतियाँ ! ख़ैरियत तो है कुन्दन ?”

“मेरी माँसी की बेटी आई है। देहात की रहने वाली है, उसके पास ऐसे कपड़े कहाँ जिन्हें पहनकर वह शहर का सामना

कर सके। इसी से आते ही पहले धोती की माँग हुई !”

कपड़े की दूकान उसी गली में थी, जिसमें कुन्दन का मकान था। दूकानदार कुन्दन को एक जमाने से जानता था। उसने उसके उत्थान का उत्सव देखा था और उस नाटक पर पतन का परदा पड़ते भी। यद्यपि वह उसकी कोई मदद नहीं करता था, फिर भी, उसके प्रति उसके दिल में अनजान सहानुभूति छिपी थी। शायद कुन्दन के उत्कट उत्थान-पतन-मय जीवन के कारण।

“देखो !”—बढ़िया-बढ़िया धोतियाँ उसके सामने रखते हुए दूकानदार ने कहा, “तुम्हारी माँसी ने अपनी बेटी को तुम्हारी मदद के लिये भेजा है क्या कुन्दन ?”

कुन्दन ने सुनकर भी उक्त प्रश्न पर ध्यान नहीं दिया। वह धोतियाँ जाँचती रही।

“जरा और अच्छी दिखाओ !”—वह अपने मतलब की बोली, “ये कुछ मोटी हैं। इनमें मुलामियत भी ख़ब नहीं। इन में से एक भी उसके तन लायक नहीं है।”

“भला !”—दूसरी धोतियाँ ढूँढ़ते हुए दूकानदार ने कहा, “बड़ी ख़ूबसूरत है क्या वह ? बेठेगी ?”

“ए! भली तुम्हारी ज़वान !”—इस बार वह बोली, “वह क्या ऐसा-वैसी है। गृहस्थिन है वह। उसका ‘आदमी’ है।”

“तुम्हारे ही आदमी-सा उसका आदमी भी है, क्या कुन्दन ? सच बताना।”

“मेरा आदमी कौन मुझोंसा है—मैं उसका मुँह फूँक दूँ।”

“वही तुम्हारा जवान पालट, जिसने बुढ़ौती में तुम्हारी तक-दीर की उलटे छुरे से हजामत बना दी। भूल गई उस गुलरू—को ?”

कुन्दन की छाती में उस विश्वास घातीयुवक का चित्र एक बार ऐसे खिंच गया जैसे नशतर की रेखा। इस तरह मुँह बना

कर वह उस बात को पी गई जैसे कोई नीम का काढ़ा पिये । आखिर, एक जोड़ी धोती पसन्द कर, पैसे चुकाकर, वह चलने को तैयार हुई ।

“जरा मुझको भी,”—उसको जाते देख दूकानदार ने अन्तिम मञ्चाक किया, “अपनी माँसी की लड़की को दिखाओगी कुन्दन ? कोई डरने की बात नहीं । मैं उसको उस तरह नहीं लूट लूँगा जैसे तुमको तुम्हारा ‘आदमी’ लूट गया था ।”

“आना—शाम को ।” —कहकर वह दूकान से बाहर आई । उसने कई दिन के खाने के लिये चीजें खरीदीं, एक कंधी, आईना और तेल लिया । फिर लौटी ।

जवाहर तब तक सो उठी थी । नहाने-निबटने के बाद जब कुन्दन रसोई बनाने और वह उसकी मदद करने बैठी तब उसने कुन्दन से पूछा—

“अगर, मैं तुम्हारे साथ रहूँ तो मुझको क्या करना होगा ?”

“करना क्या होगा,”—ममता दिखाती हुई वह बोली, “तुम्हें रानी की तरह इस गली पर राज करना होगा । अब तुम रानी बनोगी । कसम है जो इसमें भूठ हो । मैं तुम्हें गाना और नाचना दो महीने में ऐसा सिखा दूँगी कि तुम्हारा जोड़ न मिले ।”

जवाहर हिचकी एक बार । उसके चेहरे का गोरा रंग न-जाने किस विचार से जरा गाढ़ा हो उठा । कुन्दन इस बात को ताड़ गई ।

“घबराओ मत !”—उसने दिलासा दिया, “तुम शाम को थोड़ी देर ऊपर की खिड़की पर, सड़क की ओर मुँह किये बैठा करो और मुझसे गाना-नाचना सीखा करो । दूसरा कोई काम चाहे न करना । ‘वैसे कामों’ से मुझे भी घृणा हो गई है । मेरा तो यह तजरबा है कि अच्छी नाचने-गाने वाली हो, तो, उसके लिये

पह जरूरी नहीं है कि 'दूसरा काम' भी करे। वैसा काम तो कमजोर गाने वालियों का आखीरी हथियार है। हाँ, तुम्हें कोई गीत याद है? देहाती ही सही। ज़रा धीरे से गाओ। देखूँ, तुम्हारा गला कैसा है। संकोच न करो बेटी, गाना-नाचना तो श्रीकृष्ण भगवान् की प्यारी कला है। नाद और नृत्य-विद्या के आदिदेव शंकर महादेव हैं। मेरी परदादी चंपाकली बेगम बिना शिव को पूजे दाना तक नहीं छूती थी। हाँ गाओ।”

धीरे से, मगर, बाँसुरी की तरह, जवाहर बज उठी—“लगो स्याम कर-पीठ दही, री !”

“वाह ! कैसा मीठा स्वर, कैसा मोहक कण्ठ !” कुन्दन तो हाथ में चिमटा लिये, अंगारे पर सिकती हुई रोटी को उलटना भूल, उसका मुँह ही ताकती रह गई।

“यह तो सूरदास का पद है, बेटी !”

“हाँ,”—लम्बी साँस खींचकर जवाहर ने उत्तर दिया, “मेरी माँ ठाकुर जी की भक्त थीं। उन्हें ‘विनय’ और ‘सूरसागर’ के कोड़ियों पद याद थे। मुझे भी याद हैं।”

शाम से पहले उसने जवाहर को तेल और उबटन से मल-मलकर साफ़ किया। सर के बालों को धोकर, चिकना कर, सजा कर ठीक किया। साथ ही वह समझाती रही उसको। डरने की कोई बात नहीं, मैं जानती हूँ, तुम भली बेटी हो। बेटी की तरह मैं तुम्हारे दिल का और सुखों का ध्यान रखूँगी। तुम्हें मेरे कहने के मुताबिक चलना-भर होगा। क्या मजाल कोई मुआ तुम्हारी ओर बुरी नीयत से ताके। मैं उसकी आँखें न निकाल लूँगी ! तुम केवल गाना और नाचना सीख लो और फिर देखो मैं सारे रतनपुर को किस तरह अँगुलियों पर नचाती हूँ। हाँ !

दिया लगते ही वह गली दीपावली की तरह चमकने लगी। वासना के साधनों में कितना आकर्षण, कितनी चमक होती है !

कुन्दन ने भी जवाहर को मखमली किनारे की नयी धोती, सुरमई रँग में रँगकर, पहना दी। ओह ! उस मामूली परिधान में वह युवती ऐसी खिलने लगी जैसे विष्णुकान्ता लता के फूलों के गुल-दस्ते में चंपा का पुष्प। उसको खिड़की पर बैठाने के पूर्व बायीं हथेली पर तनक-सी रोली गीली कर, बिचली अँगुली से उसने जवाहर के मस्तक के मध्य में ज़रा छू दिया। ओह ! उतने ही से उसका रूप इस तरह दमदमा उठा जैसे बिजली का बटन छूने से 'बल्व' बले !

मानिकलाल मानसिक द्वन्द्व में पड़कर अपने जिगरी दोस्तों को भूल-सा गया, पर उसके दोस्त न भूल सके उसको । जब वे दो-चार की संख्या में कहीं एकत्र होते, खेल-कूद या सैर-सपाटे में, तब वह उन्हें बहुत याद आता । वे अपने ऐसे दिलदार यार के असमय वैराग्य की रोज़ ही चर्चा करते । आपस में पूछताछ करते कि कारण क्या है जो इस साल वह ऐसा एकान्तवासी और नीरस हो गया है । मगर, किसी को उसकी तबदीली की वजह नहीं मालूम थी ।

स्कूल की पढ़ाई और परीक्षा समाप्त हो गई थी । इस बार मानिक फेल हो गया था ! ऐसा नहीं था कि वह परीक्षा देने बैठा ही नहीं । उन दिनों वह आता रहा, परीक्षा-स्थान पर बैठता रहा, किसी-किसी परीक्षा-पत्र को उसने कुछ-कुछ लिखा भी, पर व्यर्थ, वह पास न हो सका । आधे से अधिक परीक्षा-पत्रों को तो उसने छुआ तक नहीं । वह उन्हें हाथ में लिये अपने स्थान पर बैठा रहता और शून्य-दृष्टि से कभी इधर कभी उधर देखता रहता । परीक्षा-निरीक्षक अभ्यापक उसके पास जाते, देखते, वह लिख नहीं रहा है । पूछते—क्यों ? वह उचटे स्वर में उतर देता—जी अच्छा नहीं है । मचली आ रही है, सर में दर्द है । और इसके बाद परचा और कापी जहाँ-का-तहाँ छोड़ उठ भागता । ऐसी दशा में वह फेल न होता तो और क्या होता ?

गर्मियों की छुट्टी स्कूल में हो गई थी । रतनपुर के सारे विद्यार्थी दो महीने के लिए ज्ञान के कारागार—स्कूल—से मुक्ति पाये हुए थे । इन दिनों उनके अज्ञान को मानिकलाल की सख्त ज़रूरत हुई । उसके अभाव में उनकी छोटी-छोटी महफिलें सूनी

मालूम पड़तीं। न तो उसके ऐसा दिलदार उनका कोई साथी था, न हँसने वाला, न हँसाने वाला। आखिर उसके मित्रों ने एक दिन किसी-न-किसी तरह उसको पकड़ फाँसने का इरादा पक्का किया। किसी से उन्हें पता चल गया था कि, आजकल वह अकसर नीली नदी नारायणी के किनारे अकेला घूमता या गाता या चुपचाप बैठा रहता है। बस, उन्होंने एक दिन उसे वहीं गिरफ्तार करने का विचार दृढ़ किया।

रविवार का दिन, सन्ध्या का समय था। नारायणी के करारे वाले पीपल के पास, पत्थर पर, मानिकलाल बैठा, आँखें गड़ाकर नारायणी की नीलिमा को घूर रहा था। न जाने क्या सोचता हुआ। उसी दिन, वहीं, आधे दर्जन युवक प्रेमियों ने उसको घेरा। चुपके से, पीछे से जाकर, एक ने उसकी आँखें मूँद लीं। उसके स्पर्श से वह जागा अपने विचारों की तन्द्रा से। “अरे, अरे, हीरा!” उसने सिहरकर कहा। मगर तुरन्त सावधान हो गया अपनी गलती समझकर। हीरा वहाँ कैसे आ सकती थी। वह तो रामपुर में थी!

उसके दाँस्त ठठाकर हँसने लगे। किसी को न देखकर भी वह उनकी हँसी से ताड़ गया उन्हें। “तुम गोपाल हो,”—उसने कहा, “खोल दो आँखें, मैं तुम्हें पहचान गया।” मगर, दोस्त हँसते रहे। एक ने बढ़कर उसके हाथ में अपना हाथ देकर कहा, “गोपाल मैं हूँ, मानिक, और मेरे हाथ यहाँ हैं। मैंने तुम्हारी आँखें नहीं मूँदी हैं। वह तो हीरा है!”

गोपाल ने ‘हीरा’ नाम का एक ऐसा मार्मिक और सामयिक प्रयोग किया कि मन-ही-मन मानिक सिहर उठा और उसके मित्र नये जोश से ठठा उठे। मानिक ने सोचा—ओह! वह कैसा पागल है, अज्ञान में किनके आगे उसने किसका भेद खोल दिया।

अन्त में भटके से उसने आँख मूँदने वाले के हाथों से मुक्ति

प्राप्त की। मित्र उसको घेरकर खड़े हो गये। एक उसकी दाहनी ओर भिड़कर बैठ गया, दूसरा बाईं ओर, गले में हाथ डालकर। उसके कपोल से कपोल सटाकर—

“क्यों रे, क्यों रे ! आजकल तू साधू हुआ जा रहा है ? नारायणी के किनारे बैठकर जोग साधता है ?”

मानिक चुप रहा।

“चल !”—दूसरे मित्र ने कहा, “मेरे घर पर आज तेरी दावत है। हम समझ गये हैं तेरे गायब रहने का कारण। तू भुक्खड़ जो है। इम्तिहान की वजह से इधर हमने जो दावतें तुम्हें नहीं दीं इसी से तू भागा-भागा फिरता है।”

“हीरा कौन है मानिक !”—तीसरे ने पूछा, “नाम तो यह खासा चमकीला है। लड़का है या लड़की ?”

बातें बनाकर मानिक ने उत्तर दिया, “मेरे नये नौकर का नाम हीरा है।”

“हा हा हा हा !”—सब हँस पड़े, “हमें बच्चू चरका देने चले हो ? हीरा नौकर का नाम है ? अब आपके नौकरों की ऐसी। हम्मत हो गई कि आपसे आँख-मिचौनी खेलें ! अरे पागल, झूठ ही कहना था तो कोई प्रतिभा-पूर्ण झूठ ढूँढ़ते।”

खैर, वहाँ से उसको सब गोपाल के घर पर पकड़ लाये। गोपाल रतनपुर के एक नामी वकील का पुत्र था। उसी के घर पर आज दावत की तैयारी की गई थी। रास्ते में उसने उसको बताया कि यद्यपि वह फेल हो गया है, फिर भी, जो पास हुए हैं उनकी ओर से आज दावत है। उसमें मानिक को जरूर ही शामिल होना होगा।

पहले तो वह बचने की कोशिशें करता रहा, पर जब उसे सफलता न मिली तब उसने पूछा गोपाल से कि पास होने की खुशी में वह क्या खिलावेगा ?

“मलाई की तरकारी—चटपटी !”—गोपाल ने मञ्जाक़न कहा, “खाई है तुमने कभी ?”

“नहीं तो भाई ।”

“गुड़ की कलौंजी । खाई है कभी ?”

मानिक ने हल्का-सा धक्का दिया गोपाल को—“पाजी, बात-बात में दिल्लगी !”

“क्यों इसमें दिल्लगी की क्या बात है ?”—गोपाल ने पूछा, “रईसों की दावतों में यही तो खासियत होती है । जिस चीज़ का किसी ने कभी नाम भी न सुना हो वही वह परोसते हैं । गेहूँ का अचार, बैंगन की खीर, चावल की चटनी, बाँस का मुरब्बा, यही तो अमीरी दावतों की शोभा है ?”

“मगर,”—एक ने कहा, “मैं तो कन्दाहारी नहीं हूँ जनाब । मुझे तो आप मुर्गमुसल्लम न खिलाइयेगा, तो मैं भाग खड़ा होऊँगा ।”

दोस्त की बैठक में पहुँचकर मानिक ने देखा अंग्रेज़ी ढंग से ‘डिनर टेबुल’ सजा था । उस पर ताज़ी धुली सुफ़ैद चादर बिछी थी । बीच में बड़ा-सा फूलदान—शीशे का—था जिसमें ताज़े विलायती फूल मँहँक रहे थे । उसकी दोनों ओर दो बड़े-बड़े बेलजियम के कट-ग्लास के ‘जार’ थे जिनमें साफ़ किये हुए अंगूर, कटे हुए सेव और नासपाती किसी सुफ़ैद चीज़ में भिगोये रखे थे ।

“इन जारों में क्या है ?”—मानिक ने गोपाल से पूछा ।

“नये ढंग से फल भिगोकर रखे गये हैं । यह तरकीब मैंने कलकत्ता के ग्रैण्ड होटल से सीखी है । इस तरह भिगोने से फलों में एक खास मञ्जा आ जाता है । जल में अजीब जायक़ा पैदा हो जाता है । ज़रा पीकर देखो !”

“खाने के साथ पियेंगे ।”—लापर्वाही से मानिक ने कहा ।

“नहीं,” एक दूसरे मित्र ने कहा, “यह चीज खाना शुरू करने के पहले ही पी जाती है। इसे अंग्रेज़ लोग ‘एपीटाइज़र’ कहते हैं। इससे भूख जागती है।”

इसी समय गोपाल का नौकर आया। उसने सात साफ़ गिलासों में दो-दो चार-चार टुकड़े फलों के और आधा-आधा गिलास वह सुफ़ेद जल ढाल दिया। यार लोग अपने-अपने आसन पर जमकर पीने लगे।

“इसमें तेज़ी कैसी है? यह पानी तो नहीं मालूम पड़ता।”

दोस्त हँसे। एक ने कहा, “यह पानी है मानिक, इसका नाम हीरा है।”

“सच बताओ,”—मानिक ने पूछा, “यह है क्या?”

“फलों का शर्बत,”—गोपाल ने कहा, “थोड़ी देर तक भिगोये रहने से फलों का रस जल में उतर आता है। इसमें जो तेज़ी है वह अंगूर की है।”

“नशा भी होता है इसमें?”—गिलास खाली कर फलों को चखते हुए मानिक ने पूछा।

“नहीं,”—गोपाल ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, “हम लोग कुछ पियक्कड़ तो हैं नहीं।”

मगर, भोजन आरम्भ होते-होते मानिक की नसों में हलकी-सी मस्ती दौड़ने लगी करीब-करीब वैसी ही मस्ती जैसी हीरा को देखने के वक़्त उसकी नसों में फिरने लगती थी। उसे बड़ा आनन्द मिला उस शर्बत से। उसने फिर ढालकर पान किया—और फिर। भोजन समाप्त होते-होते वह भूमने लगा।

“इसमें शराब थी गोपाल—थी न?”—उसने पूछा, “हा-हा इसमें नशा है!”

“यह नशा नहीं, हीरा है मानिक, अच्छा सच बताओ यह हीरा कौन है?”

“मत पूछो !”—अब वह खुल पड़ा, “वह मेरी सखी है। आह ! मैं उसको इतना प्यार करता हूँ—ऐसा चाहता हूँ—जैसे कोई अपनी जान को चाहे।”

“ओहो !”—दोस्त हँसे, “अब थाह लगी। इसी हीरा के लिए आपने हम लोगों को भुला दिया है। अच्छा यार कहाँ रहती है वह ?”

“वह—वह !” मानिक की ज़बान लड़खड़ाने लगी—“वह मेरी पड़ोसिन है। आह !—है कहाँ अब ? थी।”

“याने ?”—आधे दर्जन मुखों से एक ही प्रश्न हुआ।

“अब वह अपनी ससुराल चली गई है। चार महीने हुए उसका गौना हुए।”

“आह ! तो आजकल आप हिअ की घड़ियाँ गिन रहे हैं ? तभी नारायणी का तट ऐसा प्यारा हो गया है। वह कैसी है मानिक ? अरे यार, बड़े मतलबी निकले तुम। हमें कभी दिखाया तक नहीं उसको।”

“नारायणी के तट पर सूर्यास्त के समय जैसी सुन्दरी गोधूली मालूम पड़ती है, हीरा उससे भी बड़ी थी। ओह ! मैं उसको भूल नहीं सकता।”

“अरे यार, ऐसी थी वह !”—गोपाल ने कहा, “इस बार आबे तो हमें भी दिखाना। और यह तो बताओ कि इस प्रेम में कुछ आगे भी बढ़े या आह ही खींचते रह गये ?”

मानिक एक आह खींचकर चुप रह गया। अपने पास के मित्र की कुर्सी पर उठँग कर उसने आँखें मूँद लीं।

यार लोग कोलाहल की तरह हँसने लगे !

जवाहर को बाज़ार ने देखा । सोने-सा मुँह था, नीलम-सी आँखें, मूँगे-से ओष्ठ और माथे की वह अनुराग-मयी बिन्दी लाल-सी ! खिड़की पर, एक ओर ज़रा उठंग कर, आँखें झुकाये वह इस तरह बैठी थी मानों छवि की मूर्ति थककर दम ले रही है । जिसने उसे एक बार देखा, वह देखता ही रह गया ।

एक अधेड़ मियाँ महोदय ने उसकी ओर ताककर, आँखों से लालसा का विज्ञापन करते हुए ज़ोर से कहा, आह ! “सरेशाम उसने मुँह से जो रुखें नक्राब उलटा; न गरूब होने पाया, वहीं आफ़ताब उलटा ।”

उसके पास ही कोई छरहरा-सा जवान खड़ा था । उसके मुँह पर अभी भरपूर मूँछें भी नहीं निकली थीं, मगर देखने से वह असमय वृद्ध-सा, अफ़ियूनी-सा या कोकीनखोर-सा मालूम पड़ता था । मियाँजी का शेर सुनकर उससे भी न रहा गया—

“जो फिराके उसने मुँह को…”—उसने कहा, “बक्रजा नक्राब उलटा । इधर आसमान उलटा, उधर आफ़ताब उलटा ।”

वाह-वाह की धूम मच गई । प्रायः उसी तरह जैसे कम समझ दाद देने वाले मुशायरों में वाहवाही लगाते हैं । कुन्दन के मकान के सामने भीड़-सी लग गई । जिसे देखो वही खिड़की की ओर ताक रहा है और आँखें मलमलकर निहार रहा है । मानों उन्हें अपने देखने पर विश्वास नहीं हो रहा था । मानों वे नज़रों को अधिक-से-अधिक पारदर्शी बनाकर उस लड़की की तस्वीर को आँखों के ‘कमरे’ और पुतलियों के ‘लेन्स’ से दिल के ‘प्लेट’ पर खींच लेना चाहते थे । अजीब हालत थी उस समय उस गली की जिसमें घुसकर समाज के लोग एक बार अपने को सात्विक,

धार्मिक और उस मशहूर चारित्रिक बन्धनों से मुक्त समझते हैं। जिस पर मुग्ध होकर लोग एक बार शरीर और शरीर के आरामी-विलासों के साधनों ही को सब कुछ समझने लगते हैं। वह भगवान् को भी भूल जाते हैं जिनकी एक भृकुटि-विलास से ब्रह्माण्डों तक के शरीर गलित-पलित हो जाते हैं। और बहुधा यह सब जानते और मानते हुए। क्योंकि, भगवान् के प्यारे इस देश में उनके जाननेवालों की जमात-की-जमात भरी है।

थोड़ी ही देर में कुन्दन के अँधेरे दरवाजे पर उजले कपड़े वालों की थपकियाँ थिरकने लगीं। वह तो ऐसे भले-मानसों ही के इन्तज़ार में बेज़ार बैठी थी। चट-से दरवाज़ा खोल बाहर आई—

“जहे किस्मत ! लाइये तशरीफ़ !”

भीतर जाकर पूछा एक सज्जन ने—

“वह कौन है ?”

सज्जन तीन थे। एक के उक्त सवाल पर दूसरे ने रोका उसे—

“यहीं से पूछताछ कैसी ? ऊपर चलिये, आराम से बैठिये और जिनके बारे में जानना है उन्हीं से पूछिये।”

“जी हाँ,”—कुन्दन ने भी समर्थन किया, “ऊपर आइये।”

उधर जवाहर के कानों में ज्योंही लोग के पैरों की धम-धमाहट पड़ी त्योंही वह खिड़की से उठ खड़ी हुई और जल्दी से बगल वाली कोठरी में जा घुसी। एक तरह से उस रूप में समाज में आने का उसके लिए वह पहला ही दिन था। उसकी छाती धड़कने लगी, दम घुटने लगा। ऐसा होने लगा उसके जी में कि वह कहाँ भाग जाय कि इस बाज़ार की इन आँखों से बचे।

कोठरी में जाकर वह एक कोने में दीवार से सटकर खड़ी हो गई और सोचने लगी। सोचने लगी कि वह किस ऊँचे

स्नानदान की बेटी है, उसके दादा और परदादा कैसे प्रतिष्ठित थे। उसके गाँव में उसकी कैसी इज्जत थी। और आज उस घर की वह अभागिनी 'ऐसे करम' के लिये बाज़ार में आ बैठी है !

वह सोचने लगी—आह ! औरत का दिल क्या इसलिये बना है कि बीच बाज़ार में जिस-तिस के हाथ चाँदी और सोने के टुकड़ों के भाव पर बेचा जाय ? क्या उसने भली औरतों के बारे में ऐसा ही सुन रखा है ? नहीं तो, नहीं तो। उसकी माँ क्या कहा करती थी ? वह सात्विकता और सदाचार की कितनी पक्ष-पातिनी थी। आह ! कहाँ रामायण का पाठ, विनय-पत्रिका और सूर-सागर के भजनों का सभक्ति गान, ठाकुर—श्रीठाकुरजी की पूजा और कहाँ यह कर्म ! उफ़ ! परलोक में उसका ईश्वर उसके इस रूप को देखकर कितना असन्तुष्ट होगा। उसकी माता, स्वर्ग में रहने पर भी, उसके इस व्यापार के दर्शन कर किस नरक-यातना-कष्ट का अनुभव करेगी। नाः-नाः उससे यह कर्म नहीं होने का। वह यहाँ से भी कहीं भागेगी। वह अपने तमाम जीवन को भाग-भाग में बिता देगी। वह कष्ट सहेगी, पर इस बाज़ार में न बैठेगी।

इसी समय कुन्दन उस कोठरी में आई, मुस्कराती हुई। “उँहँ” उसने कहा—“लगीं घबराने न ! बेटी, मेरी बात पर तुम्हें एतबार नहीं। मैंने जो कहा, किसकी मजाल जो मरजी के खिलाफ़ तुम्हारी ओर अँगुली तक उठा दे। गोकि यह सबसे गया-बीता पेशा है, मगर बिलकुल ऐसा नहीं है कि इसमें इज्जत दारिनें रहती ही न हों। अरे इस रोज़गार में तो ऐसी-ऐसी औरतें पाई जाती हैं—हिम्मती, शरीफ़, दिलदार कि अच्छे-अच्छों के छक्के छूट जाते हैं। मैं इस काम की एक-एक नस से परिचित हूँ। तुम मेरे अन्तर-अन्तर पर विश्वास करो और निडर भाव से उनके आगे चलो। इस शहर के तीन रईस बैठे हैं। तुम

जरा मुस्कराकर, जैसे मैंने सिखाया है, उनसे बातें भर करो— फिर देखो, आगे मैं क्या करती हूँ।”

“नहीं माँ !”—गिड़गिड़ाकर जवाहर ने कहा, “मेरी हिम्मत नहीं पड़ती। मारे लाज के मैं गली जाती हूँ। मुझे चार दिन इस गली में रह लेने और जरा मजबूत-दिल हो लेने दो, तब लोगों का सामना कराना।”

कुन्दन समझ गई जवाहर के भावों को कि वह बिल्कुल ठीक कह रही है। उसने ज्यादा जोर देना ग़ैर-मुनासिब समझा। वह ‘सज्जनों’ के पास लौट आई।

“मैंने कहा नहीं,”—उनसे बातें बनाने लगी, “वह, गृहस्थिन है। मेरी माँसी की लड़की है। वह तो योंही, बाज़ार निहारने के लिए, खिड़की पर बैठ गई थी। मैं समझाते-समझाते हार गई, वह आने को राज़ी नहीं। कोठरी में बैठी रो रही है।”

“मगर, कुन्दन !”—एक सज्जन ने कहा, “उसके तीरे-नज़र के हम घायल हैं। राम ही जानते होंगे, कलेजा चलनी हो गया है।”

“कम-से-कम...,”—दूसरे सज्जन बोले, “एक बार जरूर उनसे हमारी मुलाक़ात कराओ, चाहे जैसे हो। हम हर तरह से हाज़िर हैं।”

“मुझे डर लगता है,”—कुन्दन बोली, “दूसरे की बेटी, दूसरे की बहू, चार दिनों के लिए मेरे यहाँ आई है। अब अगर मैं कोई नाजायज़ फ़ायदा उठाऊँ इस मौक़े से, तो, जरूर मुझे पाप लगेगा। और, इस गली में पाप से चाहे न भी डरा जाय, पर, मेरी माँसी को पता चलेगा, लड़की के आदमी पर बातें खुल जायँगी, तो मैं क्या जवाब दूँगी? ना बाबू, इस गली में हज़ार जगहें हैं, हज़ार सूरतें हैं, आप किसी और को पसन्द

करें ।”

चार लोग ताड़ गये कि कुन्दन मुँह-दिखौनी में भी बिना कुछ लिये न मानेगी । यह सब भूमिका उस लड़की की शराफत की नहीं, रुपये ऐंठने की है ।

“अच्छा हम आज जाते हैं,”—तीनों उठे । एक ने कहा, “ये रुपये लो । पचास हैं । कल उससे एक बार भेंट करा देने की फ़ीस है । आगे की बातें फिर होंगी । हम चाहे और कुछ न चाहें, मगर एक बार उससे मिले बिना हमें कल नहीं । समझती हो ? कल—इसी वक़्त !”

कुन्दन ने बिला उज्र रुपये सँभाल लिये ।

पारसनाथ पर उस दिन भयानक क्रोध सवार था। वही क्रोध जो अन्धा, बहरा, हृदय-हीन और पाप का मूल होता है। अपनी युवती और अभागिनी पुत्री को, बिना अपराध ही, अनेक घूँसे और थप्पड़ लगा, सैकड़ों दुर्वचन सुनाकर भी वह शान्त नहीं हुए। मुहल्ले में जो उनका अपमान हुआ था, उससे वह ऐसे उद्वेलित थे कि उस समय उनका वश चलता तो किसी का खून कर डालते।

लड़की को प्रताड़ना और प्रहार-पीड़ा से आँगन में कलपती ओर रोती छोड़ वह पुनः घर से बाहर निकले। वह एक ओर बढ़े, बेहोशी में, मगर उनके पाँव होशियार थे, थोड़ी देर बाद वह कलवरिया और कलाल के सामने थे।

“क्यों-क्यों ठाकुर साहब,”—कलाल ने साश्चय पूछा, “आप लौटे कैसे? अभी तो पीकर घर की ओर गये थे?”

उन्होंने उत्तर दिया, “घर नहीं गया, नहीं जा सका। साला—उस साले को तुम नहीं जानते हो? उसी बूढ़े रामस्वरूप को। उसी ने सारा नशा किरकिरा कर दिया। पूछो, मैं किसी का दिया पीता हूँ या किसी के बाप की जमा उड़ता हूँ। इन बदमाशों को क्या पड़ी है जो मेरे बीच में दखल देते हैं?”

“आखिर,”—कलाल का कौतूहल बढ़ा, “खैरियत तो है? किसी की गर्दन तो नशे में नहीं टीर आये हो? हजार मज्जेदार और बादशाही नशा होने पर भी गुस्से में यह दारू खूनी हो जाती है। आपको मालूम नहीं? परसाल मुलई भर ने अपनी गर्दन खो दी थी, इसी नशे में। यही से पीकर अपने घर गया था और वहाँ बेबात की बात पर अपनी जोरू से लड़ गया था।

लड़ा भी कैसे—उस गरीब की गर्दन ही पकड़कर उमेंठ दी। वह वहीं ठण्ठी हो गई। उसी दम बेदम हो गई। बस—दूसरे दिन पुलिस और हथकड़ी और अदालत। उसने लाख कहा कि वह नशे में था, अपने आपे में नहीं था, पर अदालत ऐसी बातें कब सुनती है? उसको तो जान के बदले जान चाहिये। जज ने कैसले में बताया कि धोक्के में, दूसरे से पिलाई हुई शराब के नशे में, यदि ऐसी वारदातें हों, तो और बात है। पियक्कड़ यह कहकर खून से नहीं बच सकता कि वह बेहोशी में था। बस, टँग गये बच्चू। वह घटना मुझे भूलती ही नहीं, मेरी भी बहुत दुर्दशा हुई थी उस मामले में। अदालत में गवाही के लिए दौड़ते-दौड़ते पाँव के तलवे घिस गये थे।”

“चौधरी!”—पारस ने भरते कण्ठ से कलाल से कहा, “मैं और पीना चाहता हूँ।”

“हाँ, हाँ,”—उत्तर मिला, “पीजिये। कितने का दूँ? कितना?”

“पैसे मेरे पास नहीं हैं। तुम तो जानते ही हो मेरी हालत। एक बोतल ख़ब कड़ी और ज़रा पुरानी दो न। कल कोई बरतन या कुछ और दे जाऊँगा।”

कलाल तो इन शर्तों पर पारस को पिलाने का अभ्यस्त था। इस तरह उसे एक के चार नहीं, तो दो ज़रूर मिल जाते थे। प्रसन्नता-पूर्वक उसने उनको एक पुरानी बोतल दी। थोड़े चटपटे चने और एक कुल्हड़ भी। वह कलवरिया के फाटक ही पर जमकर पीने और बड़बड़ाने लगे।

“...हूँ...हूँ मैं बदला लूँगा उस बूढ़े के लोंडों से। और नहीं तो किसी दिन धोके में, अँधेरे में, सालों को छुरा ही पेल दूँगा। बला से मुलई भर की तरह मुझे भी लटक जाना पड़े। हूँ : ! लटकने की मुझे परवाह है।”

वह ढालते गये, पीते गये, बरति गये, मगर, उन्हीं लड़कों

पर जिन्होंने उन पर हाथ छोड़कर अपने पिता के मान की मरम्मत की थी। इस बीच में अपनी लड़की का उन्हें एक बार भी ध्यान न आया। वह उस पर तो नाराज ही नहीं थे। उसे उन्होंने जो मारा था वह इसलिए नहीं कि वह गाँव के आवालों को जुटाकर, पाजीपना कर, उनका पानी उतारती थी। इसलिए भी नहीं कि वह पिसौनी-कुटौनी कर उनका नाम हँसाती थी। उन्होंने तो गली के अपमान की कसर घर में निकाली थी।

उस दिन उन्होंने इतनी पी थी कि वह बोतल समाप्त होते-होते उनके होशो-हवास जाते रहे। कलवरिया के दरवाजे ही पर टाँग पसारकर, आँखें खोले हुए, वह नाक बजाने लगे। वह सो नहीं गये थे—जाग रहे थे; मगर नाक उनकी बोल रही थी। इसी अवस्था में सुबह हो चली, पौ फटने लगी। उदार प्रातः-समीरण के अनेक शीतल-सुखद भोंके कलवरिया के पतितों के पाँवों, आँखों और अङ्गों को गुदगुदा गये। पारस की तन्द्रा भी टूटी। उनके होश भी लौटे। ओह ! वह सोचने लगे—सारी रात यहीं कट गई ! वह घर गये ही नहीं। उनकी लड़की बेचारी बैठी न होगी, उनकी बाट जोहती हुई ?

तुरन्त वह दौड़े घर की ओर—अपनी लड़की की ओर। जैसे रात-भर जंगल में भटकती हुई गाय सवेरा देखते ही अपने थान और बच्चे के लिए दौड़े। वह बहुत प्यार करते थे उस लड़की को।

रास्ते में रात की घटनाएँ जैसे उन्हें याद आने लगीं। याद आई—वह किसी से लड़ गये थे, उन्होंने किसी बूढ़े को दो-तीन थप्पड़ मारे थे ! और और उनका भी किसी ने अपमान किया था। हाँ—रात में—वह ज्यादा पी गये थे। ओह ! अभी तक सर इस तरह धमक रहा है मानों भीतर द्यौढ़े चल रहे हैं। उनकी गति तीव्र-से-तीव्र-तर हो गई।

रात में वह घर पर भी गये थे—गये तो थे । हाँ-हाँ गये थे । वह रसाई बना रही थी । भीतर से आँखें पोंछती हुई निकलकर आई थी और...याद नहीं आता...हाँ उन्होंने उस पर क्रोध प्रकट किया—उसे मारा था । मारा था—उस गऊ-सी-सीधी लड़की को ? शराब के नशे में ? आयें !

अब पारस को पता चला कि उन्होंने रात में कैसी निष्ठुरता या भूल या पियक्कड़ई की थी । अब वह आगे न सोच सके । तीर की तरह झपटे अपनी बेटी की ओर—घर की ओर ।

पारस के मार-पीटकर चले जाने पर कोई दो घंटे तक तो उनकी लड़की बिसूर-बिसूरकर रोती रही । इसके बाद वह गम्भीरता से सोचने लगी । सोचने लगी अपना और अपने पिता का भविष्य । उसे चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखाई पड़ा । न खेत बचे थे, न खलिहान । घर भी नहीं था और उसमें चार दाने या चंगुल-भर आटा भी नहीं था । कुछ दिनों से गहने-बरतन पर गुज़र हो रहा था, लेकिन अब वह पूँजी भी अन्तिम साँसें ले रही थी । फिर ऐसे घर में, ऐसे बेहोश पिता के साथ रहकर, कब तक वह गुज़र कर सकेगी ?

इस प्रश्न या इन प्रश्नों पर उसने उस दिन के पहले भी विचार किया था, मगर, विचारने के सिवा वह कर ही क्या सकती थी ? उसे कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता था । हाँ, ठाकुर जी के चरणों पर माथा ज़रूर कचाकच पटकती थी; पर वह तो अन्धे निकले, बहरे निकले, जड़ निकले, मूक निकले । उन्होंने उसका कुछ भी भला नहीं किया ।

तो क्या अब वह दिन-भर कुटौनी-पिसौनी करे—पेट के लिए, पिता के लिए, और शाम को थप्पड़ खाये, गालियाँ सुने ? ऐसा व्यापार कब तक चल सकता है ? या भगवान् ! दुनिया भर का दुर्भाग्य उसी बेचारी के माथे में सजाना था ?

‘आह ! किस बेरहमी से पिता ने उसे गालियाँ दीं, किस निर्दयता से उसका मुँह पीटा ! अब वह मार खाया करेगी ? अनन्त काल तक । नाः, नाः । इस कष्ट, इस अपमान से तो मौत ही अच्छी । वह मरेगी अब—उसका मरना ही भला । नाश हो इस जीवन का, आग लगे इस घर में, चूल्हे में जायँ ये ठाकुर और देवता—कोई उसके घाव पर मरहम रखने वाला नहीं; नमक भुरभुराने वाले सभी । यहाँ तक कि अपना बाप भी ।

बस, अब किसी कुँएँ में डूब मरना ही उसका अन्तिम सुख होगा ।

मानो उसे भी शराब चढ़ आई । वह निकली अपने घर के बाहर, दरवाजे को ज्यों-का-त्यों खुला छोड़, लोगों की नज़रें बचाती—गली पार हुई, मुहल्ले के बाहर आई—सड़क पर आई । वह बढ़ चली तेज़ी से एक ओर । कुछ दूर जाने पर, सड़क से थोड़ी दूर पर उसे प्रकाश दिखाई पड़ा; कोलाहल सुनाई पड़ा । वह पहचान गई उस स्थान को । वही कलवरिया थी, जहाँ पर उसके पिता अपने सर्वनाश का जाप किया करते हैं । उसने सोचा, हो-न-हो उसके पिता वहाँ हों । वह देखे न एक बार जाकर । हों तो पुकारे, बुलावे और रोकर कहे—“बाबा, छोड़ो इस मुंशीगंज को । यहाँ पर तुम्हारे शनैश्चर ने डेरा डाला है । आओ, चलो हम बाप-बेटी कहीं दूर भाग चलें । हम भीख माँगकर पेट पालेंगे, पर यहाँ के अपमानों से तो बचेंगे ।” वह बड़ी भी उसी ओर, पर दो-चार कदमों ही पर ठिठकी उसे याद आई, उसके पिता उसके चरित्र पर भी शाम का लांछन लगा रहे थे । कलवरिया में उसे देखकर तो वह आग ही हो जायेंगे । यह मोह है, यह दुर्बलता है । अब उसका इस ओर न बढ़ना ही अच्छा है । उसे डूब ही मरना चाहिए ।

वह फिर धुंधले रास्ते पर चली । कुछ दूर आगे गई होगी

कि एक आदमी उसे मिला । वह आगे था, पर इसकी आदत पाकर रुका । जब यह निकट हुई तो पूछा उसने—

“कौन ?”

यह चुप रही । आदमी निकट आया । अन्धकार था सड़क पर, पर वह ताड़ गया कि कोई औरत है ।

“तू कौन है ? अँधेरी रात में कहाँ जा रही है ? बतलाती क्यों नहीं ?”

“मैं कोई हूँ, तुम अपने रास्ते जाओ । तुमसे मतलब ?”

“अरे ! तू है !!”, वह पहचान गया—“कहाँ जा रही है ? पारसनाथ क्या गाँव में नहीं हैं ?”

वह भी उस व्यक्ति को पहचान गई । वह गाँव का एक ठाकुर था जो प्रायः प्रयाग में रहता था, नौकरी के व्याज से । उसने सरल भाव से अपने सारे मनोकष्ट उसको सुना दिये । और अन्त में रोती हुई बोली—

“मेरे लिए डूब मरने के अलावा अब दूसरा रास्ता ही कहाँ है ?”

“पागल कहीं की—उस ठाकुर ने उसका हाथ पकड़कर कहा, “मरने से लाभ ? अरे पछतायगी कुएँ में फाँदने के बाद । जान यों ही नहीं निकलती । मेरी बात मान—छोड़ पारसनाथ को । मेरे साथ चल । मुझे वहाँ अपने हाथ से रोटी पकानी पड़ती है । तू रहेगी तो उससे मैं बच जाऊँगा । खाना, पहनना, पड़ी रहना । मेरी बात मान !”

उसने एक बार कहा—नहीं, फिर कहा—नहीं, और फिर वही कहा, पर मरने से डर गई वह । अतः उस व्यक्ति की विजय हुई । वह एलाहाबाद जाने के लिए स्टेशन की ओर ही तो जा रहा था । बस, साथ-ही-साथ दोनों वहाँ गये और टिकट कटाकर प्रयाग के लिए रवाना हो गये ! अस्तु

घर पर पहुँचकर पारसनाथ ने देखा बाहरी दरवाजा खुला था। इतने सवरे द्वार खुला देख उनके मन में कुछ सन्देह-सा हुआ। सोचने लगे माजरा क्या है ? क्या वह अभी तक बैठी रो ही रही है ? उसे उतना कष्ट पहुँचा कि दरवाजा बन्द करने का ध्यान भी न रहा ? या कोई और बात है ? घर में, रात में, गाँव का कोई...एँ ! वह तेज़ी से आगे बढ़े। भीतरी दरवाजा भी उसी तरह खुला मिला। इस बार उन्होंने धीरे से, मानो डरते हुए, आवाज़ दी—

“बच्ची !”—वह उसे इसी नाम से पुकारते थे। उसका असली नाम नहीं लेते थे।

कोई उत्तर न मिला। तब भीतरी कोठरी की ओर बढ़े वह, वहाँ भी नदारद ! रसोईघर में झाँककर देखा, वहाँ भी नहीं। इस बार जोर से उन्होंने पुकारा, भर्राये गले से—

“बच्ची ! बचिया रे !!”

मगर, बचिया थी कहाँ ? अब उनका कलेजा उछलने लगा। उनके मन में कोई दारुण सन्देह उठने लगा। पर अपने सन्देह पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ। वह अपनी बचिया को जानते थे, उससे उन्हें वैसी आशा नहीं थी। उन्होंने सोचा हो-न-हो किसी काम से किसी पड़ोसी के यहाँ गई हो। उन्होंने यह नहीं विचार किया कि अभी तो पड़ोसी मजे में जागे भी न होंगे।

अब घर के बाहर आकर उन्होंने आवाज़ दी—“बचिया !”

एक पड़ोसी ने निकलकर पूछा, “क्या है ठाकुर ? कहाँ गई है बचिया ?”

“मालूम नहीं,”—नीरसता से उसे उत्तर देकर वह पुनः पुकारने लगे उसको।

जब घर और बाहर उसका पता न चला, दिन निकल आया मगर वह पारस की नज़रों से छिपी ही रही, तब उनके मन में

निश्चय हो गया कि उनकी बचियां हमेशा के लिए उनसे दूर हो गई—“दूर हो गई ! निकल गई ! मेरे पापों से घबराकर कहीं अपना मुँह काला कर गई । उफ, हाय रे मैं ! हाय रे मैं !”

पारसनाथ के आँसू मानो गला फाड़कर बाहर निकलने के लिये व्याकुल होने लगे ।

उन्होंने आठ बजे सवेरे तक मुहल्ले के एक-एक घर के प्रत्येक व्यक्ति से अपनी बचिया का पता पूछा—व्यर्थ । यहाँ तक कि वह उन लौंडों के पास भी गये, रात्रि का अपमान भूलकर । क्योंकि बचिया की चिन्ता उनके माथे में करैत के जहर की तरह उस वक्रत व्याप उठी थी, जिसके आगे शराब नगण्य है । चार बजे शाम तक उन्होंने सारा मुंशीगंज, उसके खेत और खलिहान, बारा और बगीचे ढूँढ़ डाले । वह पूछते जाते थे, पुकारते जाते थे और अकसर एकान्त पाकर उसके लिए आँसू बहाते जाते थे । वह सोच रहे थे—आह ! वह निकल गई । मेरे सात पुश्त की नाक काट गई । मेरे पुरखों के स्वर्ग को नरक बना गई । और क्यों ? इसलिए कि मैं वेणु-वंश में घमोई-सा पैदा हुआ हूँ । जब तक वह मेरे सामने थी, मैंने उसके भविष्य का कभी विचार नहीं किया । अपने दैहिक स्वार्थों में, मन के विलासों में फँसा रहा । वह युवती हो गई, पर मैं उसे किसी भले वर के हाथों में सौंप न सका । क्यों न सौंप सका मैं ? था क्या नहीं मेरे पास ? मैं आधे मुंशीगंज का ज़मींदार था, मैं धर्मावतार था, मैं सरकार था—और मेरी बेटी बिन ब्याही आज घर से निकल गई !

मुंशीगंज के पास-पड़ोस का एक-एक कुआँ भाँक तथा प्रत्येक तालाब ताककर, उसे न पाकर, थककर चूर होकर, सूर्यास्त के समय वह पुनः अपने घर पर लौटे । लोग रास्ते में पूछते—वह मिली ? पारस पास्त और दीन-सा मुँह बनाकर प्रश्नकर्ता की ओर ताक भर देते । वह इतने ही से सारा पता पा जाता; जान

जाता कि वह उनके मुँह पर अमिट काजल पोतकर कहीं निकल गई !

घर में आकर, यह जानते हुए भी कि वह नहीं है, अभ्यास-वश या मन के भीतर बैठी मृग-मरीचिका-मयी-अमर-आशावश, उन्होंने पुनः उसे पुकारा—

“बचिया—बच्ची !”

वह फिर एक-एक कोठरी में खोजने लगे । विक्षिप्त-से हो गये । उन्होंने सन्दूक खोलकर आवाज दी—“बचिया !” और जब उत्तर नहीं मिला तो बक्स को उठाकर धम्म से ऑगन में फेंक दिया । ताखे के पास जाकर पुकारा—“बचिया !” और वह नहीं बोली—उन्होंने ताखे की चीजों को दोनों हाथों से सारे कमरे में बिखेर दिया । ठाकुरजी की कोठरी में जाते-जाते उनके धैर्य का दीवाला निकल गया—

“धत्त — धत्त ! बचिया नहीं रही और ये पत्थर जमे बैठे हैं । वह इन्हीं को तो भगवान् मानती थी । इन्हीं की तो पूजती थी । उसका इन्होंने उसे कौन-सा फल दिया ? यही अपमान ? यही, घर-बार छोड़कर कलङ्कितियों की तरह मुँह काला करने का सुख ? ठाकुरजी हैं ये !”

उन्होंने एक-एक मूर्ति को सावधानी से चुनकर असावधानी से बाहर फेंक दिया और इसके बाद उसी कोठरी में बैठकर अपनी मूँछ के बाल नोचने और रोने लगे ।

“हाय रे ! आज ये मुँहें झुक गईं । आज क्षत्री की मर्यादा मिट्टी में मिल गई ! आज मेरे जीवन में, संसार में लोक-परलोक में आग लग गई—सब कुछ जल गया !”

हीरा के पति ने 'सेक्स साइकॉलोजी' का अध्ययन नहीं किया था। उसने तो जीवन के महज तीन ही बरस स्कूल में बिताये थे। पैसे वाले का पुत्र था, दुलार खूब होता था, इसीलिए नौ वर्ष के वय तक तो उसने क और ख का परिचय भी नहीं प्राप्त किया था। दसवें वर्ष में ढोल, मृदंग, शंख, शहनाई बजाकर, ढाई सौ ब्राह्मणों को पक्की और दो सौ शूद्रों को कच्ची रसोई खिलाकर, राई-लोन उतारकर, एक फक्कीर द्वारा मोरमुर्छल से उसके दुष्ट-ग्रहों को शान्त कराकर, बाई कलाई में भैरवनाथ का काला गण्डा और माथे की बाई और काजल का एक दढ़-टीका लगाकर, पाँच ब्राह्मण और तीन नाई के साथ, वह विद्याभ्यास के लिए, 'टाउन वर्नाक्यूलर हाई स्कूल' में भेजा गया। यद्यपि वह कुछ भी नहीं जानता था, फिर भी उसके बाप ने प्रधान जी से प्रार्थना कर उसे थर्ड क्लास की एक बेंच पर स्थान दिला दिया। और बस, तीन बड़े-बड़े वर्ष उसी थर्ड क्लास के पास करने में व्यतीत कर, बराबर निस्संकोच फेल होकर, उम्र के तेरहवें वर्ष के अन्त में वह स्कूल से विदा ले आया। उसी साल उसकी पहली शादी हुई। तीन वर्ष बाद गौना हुआ और इतने दिनों पर भी जब लड़की घर में आई, तो लोगों ने देखा उसका वय दस वर्ष के कुछ ही ऊपर था। इसीलिए इस बार हीरा जैसी सयानी लड़की को तलाश कर उसके बड़ों ने उसको सौंपा था।

उसे न तो समाज ने बताया था और न अनुभव या उद्योग ने कि पर-घर में आई हुई नयी-नवेली कुमारी का हृदय कैसे जीतना चाहिए। वह तो इतना ही जानता था कि ब्याह के बाद अपने घर में आई हुई परायी लड़की, जाल में फँसा हुआ शिकार

है, मुट्ठी में आया हुआ दुश्मन है। अपनी शर्तों पर उसको अपनाओ, अपनी भर्कों पर उसे नचाओ।

उसे यह नहीं मालूम था कि, गोबर के और चावल, दाल, रोली के हज़ार देवताओं की उपस्थिति में केवल ब्याह हो जाने से परायी लड़की तुरन्त प्राणेश्वरी, जीवन-वल्लभा, अनिभ्राणा, सती नहीं बन जाती; जैसे चाँदी की अठन्नी भुनाने से फ़ौरन आठ आने पैसे तैयार हो जाते हैं। अपनी ही स्त्री होते-होते जीवन-सहचरी हो सकती है, वह भी, जब कोई पाटी-सा भाग्य वाला हो। नहीं तो एक बाँदी मात्र घर में पड़ी रहती है, जिस पर व्यक्ति-विशेष का सामाजिक क़ब्ज़ा होता है। क़ब्ज़ेदार संसार में घोषणा करता फ़िरे कि वह उसकी क्या है और क्या है, पर बाँदी के दिल में अपने स्वामी के प्रति बहुधा कैसे भाव होते हैं, इसे कौन जानता है। इसे जानने की पर्वाह ही किसे है?

यदि हीरा का पति शान्ति, सावधानी और सहृदयता से काम लेता, धीरे-धीरे उसके हृदय पर क़ब्ज़ा करता, क़ब्ज़ा करने के पूर्व उसमें पैठने और देखने की कोशिश करता—उसकी संगिनी के सुख क्या हैं, दुख क्या हैं, वह चाहती क्या है, नहीं क्या चाहती—और तब, उसकी परिस्थिति से सहानुभूति के साथ, उसे अपनाना चाहता, तो उसे हीरा के प्रेम से इतना निराश न होना पड़ता। क्योंकि आखिर वह उसकी ब्याहता स्त्री ही थी। संसार की और किसी भी स्त्री के हृदय से क़ब्ज़ा करने के लिए अपनी स्त्री का हृदय अधिक सन्निकट होता है। मगर प्रेम के सूक्ष्म रहस्यों का पता उसे नहीं था। वासना की विक्रित क्रीड़ा ही को वह प्रेम समझता था।

फ़लतः पति होने पर भी हीरा उससे घृणा करने लगी। वह दिन भर घर के काम-काज में तल्लीन रहती, रसोई करती, महरी के आने में ज़रा-सी देर होते ही चौका और बरतन तक चमका

देती, इस पर भी कुर्सेत रहती तो सासकी देह में उबटन लगाती, जेठानियों के बाल गूँध देती; मगर, पति नामक उस पशु के नाम से भी वह दहल जाती। पहले तो वह ऐसी चेष्टा करती कि उससे सामना ही न हो, और इस पर भी यदि सामना होता, तो ग्लानि से, शोक से, घृणा से, ऐसे सकुचा जाती जैसे वायु के तीव्र स्पर्श से लज्जावती लता।

पति उसका दृष्टतों तक सरे शाम ही से कोठरी में आकर पड़ा रहता, निसी-न-किसी बहाने से उसे पुकारता भी, पर वह न जाती। सास जाने के लिए जोर डालती तो वह बच्चियों की तरह रोने लगती। जेठानियाँ कुछ बोलती तो उसे क्रोध आ जाता।

“क्यों रे,”—एक दिन मौक़े से पाकर उसके पति ने पूछा उससे, “तू भागती-भागती क्यों फिरती है? गोया मैं तेरा कोई हूँ ही नहीं। ऐं?”

वह निरुत्तर खड़ी रही, सर झुकाये। पति को आवेश आ गया। उसके निकट जाकर, उसका मुँह ऊपर उठाकर पूछा—

“तुझे तेरे बाप के घर भेज दूँ?”

उसने कहा, “हाँ, मुझे भेज दीजिये। मैं हाथ जोड़ती हूँ, मुझे वहीं भेज दीजिये।”

“फिर सपने में भी इस घर में न बुलाऊँगा—याद रहे।”

उसने कहा, “न बुलाइयेगा। मुझे रतनपुर से अधिक स्वर्ग भी प्यारा नहीं।”

उसके इस उत्तर पर उसके पति को सन्तोष नहीं हुआ, बल्कि मन में क्रोध और सन्देह उठने लगा। वह बोला—

“इसी तरह रतनपुर प्यारा था तो यहाँ आई ही क्यों? वहीं रहती।”

“मैं अपनी इच्छा से तो यहाँ आई नहीं हूँ। मेरा वश

चलता तो मैं अपने पिता का प्यारा घर, मर जाने पर भी, न छोड़ती ।”

“कौन है रतनपुर में रे,”—हीरा के पति ने जल-भुनकर व्यंग किया, “जिसके लिए तू पागल है ? ज़रा मैं भी उसका नाम सुनूँ ।”

इस प्रश्न से, इस व्यंग से हीरा की छाती में आग-सी लग गई । उसका मुँह धुएँ-सा हो उठा । वह कमरे से बाहर की ओर बढ़ी, ताव से—

“मुक्त से ऐसी बातें न किया करो । मैं नहीं सुनती ऐसी गन्दी गालियाँ । तुम्हारी जो हो उसे ही यह सब सुनाओ ।”

मगर उसके पति ने बीच ही में उसे पकड़ा । “यह बाबा का घर नहीं है कि ऐसी तावबाजी चलेगी । जैसे भली औरतें भले घरों में रहती हैं, वैसे ही रहना होगा । नहीं तो—नहीं तो...”

उसने बरबस उसे अपने वक्ष के पास खींच लिया । हीरा उसके आलिंगन-पाश से बचने की कोशिश करने लगी । रोती लड़की की तरह मुँह बिगाड़कर, माथे पर शिकन डालकर ।

इस खींचातानी का परिणाम वही हुआ जो स्वाभाविक था । उसका पति नये जोश से बाज़ार की हवा खाने लगा । अब वह रात-रात भर गायब रहने और घर में लौटने पर भी उससे दूर रहने लगा । गोया दोनों में कोई सम्बन्ध ही न हो । हीरा की जेठानियाँ उसे समझाती कि अभी जवानी के नशे में तू उसका तिरस्कार कर रही है, आगे चलकर भँखेगी, पाँवों पड़ेगी और उस हृदय को न पा सकेगी । देख, सँभल, तेरा भाग बाज़ार की कुतियों के आगे, तेरी असावधानी के कारण, डाला जा रहा है ।

लेकिन उस पर इन उपदेशों का कोई प्रभाव न पड़ा । वह उस पति नामधारी प्राणी को न चाह सकी, न चाह सकी । वह किसी और ही बात को सोचती रही । उसके हृदय के स्पन्दन का

रहस्य, उसके अलावा, और कोई भी न जान सका ।

आखिर, एक दिन उसका पिता रामपुर आया और उसके श्वसुर से अनेक चिरौरी-विनती कर, कुछ महीनों के लिए, उसको रतनपुर विदा करा लाया । वह इस तरह प्रसन्न होकर ससुराल से घर की ओर चली जैसे कैदी जेल से रिहाई पावे !

पन्नालाल ने उस दिन प्रातःकाल ही मानिक को अपने सामने बुलवाया ।

“तुम अब पढ़ोगे नहीं ? छुट्टियाँ खत्म हो गई, स्कूल खुल गये, पर तुम जाते नहीं । तुम्हारा इरादा क्या है आखिर ?”

“बाबू जी,”—सहमते हुए, नीची आँखें कर, मानिक ने उत्तर दिया, “मेरा जी टूट गया है, फ़ेल हो जाने से । मालूम पड़ता है, मुझ से अब न पढ़ा जायगा ।”

“पढ़ा न जायगा ?”—उसकी ओर बहुत गम्भीर आकृति से देखकर पन्नालाल ने पूछा, “तब करोगे क्या ज़िन्दगी में भैया ? इस ज़माने में जो पढ़ता नहीं—और—C A T कैट R A T रैट नहीं पढ़ता—वह अपने भविष्य को अन्धकार में गाड़ने के लिए अपने आप गढ़ा खोदता है । तुम तो दसवें दर्जे ही में फ़ेल हो गये और मैं इस उम्र में आकर अफ़सोस से हाथ मलता हूँ कि मैं दसवें तक ही पढ़कर क्यों रह गया ? मुझे वैसी सुविधाएँ क्यों न मिल सकीं कि यहाँ से बी० ए० होकर बाहर जाता और वहाँ से बैरिस्टर होकर चमाचम चमकता हुआ रतनपुर में—आठवें आश्चर्य की तरह —आता । ओह ! मैं बैरिस्टर न हुआ, नहीं तो आज मैं करोड़पती होता ।”

अन्तिम शब्दों को पन्नालाल ने मानिक से न कहकर स्व-भावतः स्वगत कहा था । वह और अधिक प्रतिभाशाली क्यों न हो सके, और धन क्यों न जोड़ सके, इस बात का दुःख हमेशा उनके मन को होता रहा । यद्यपि वह दूसरे के बाहु-बल पर अपनी आकांक्षाओं की स्वर्ण-लंका उठाने के अभ्यस्त नहीं थे, यद्यपि वह बहुत अनुभव से इस बात को जानते थे कि यहाँ पर अपनी

जिस इच्छा की पूर्ति हम स्वयं करने में समर्थ नहीं होते उसकी पूर्ति होती ही नहीं; फिर भी, अपने लड़के से किसे आशा नहीं होती ? उन्होंने भी मानिक को लेकर बहुत से सब्ज बाग बना रखे थे । सोचा था लड़का तेज है, पढ़ेगा—खूब पढ़ाऊँगा, विलायत तक भेजूँगा और रतनपुर को दिखला दूँगा कि किश्मत ने जैसे सब कुछ विशेष मुझे दिया है, वैसे ही पुत्र भी दिया है । वह चाहते थे, मन-ही-मन मगन होकर कामना करते थे कि कानूनी ज्ञान में, दबंगता में, रुपये पैदा करने में, मानिक उनसे आगे—कहीं आगे हो । वह हारेंगे, हारना चाहते हैं, अपने पुत्र की महिमा से । उन्होंने सोचा था—आहा ! वह कैसी सुख-मयी, गौरव-मयी हार होगी ।

वह गार्हस्थिक-जीवन में मानिक से विशेष सम्पर्क नहीं रखते थे, बल्कि उसके आगे दुर्वासा-गोत्र के पिता का रूपक बनाये रहते, कम बोलते, रूखा बालते थे । पर, मन-ही-मन चाहते उससे सभी तरह के पुत्र-सुख थे । मगर इधर कई महीने से उसके रंग-ढंग पन्नालाल बाबू को बहुत खले । उसका बराबर अन्यमनस्क रहना; घर से, आदमियों से, दूर-दूर रहना; कम बोलना, फेल हो जाना—आदि, आदि, उनको कुछ अशुभ-सूचक से लगे । जब उन्होंने यह सुना कि मानिक फेल हो गया तब उनका कलेजा धक्के से होकर रह गया । उन्हें अपनी श्रवण-शक्ति पर सहसा विश्वास नहीं हुआ । असफलता का पन्नालाल से, उनके परिवार से, उनके पुत्र से भी कोई सम्बन्ध हो सकता है, वह यह मानना ही नहीं चाहते थे । पर बात सच थी, क्योंकि यहाँ पर ऐसी कोई भी बात नहीं जो समयानुसार सच न हो सके ।

घर में उन्हें यह भी पता चला कि लड़का आजकल खर्चीला हुआ जा रहा है । जब यह संवाद मानिक की माँ ने उन्हें सुनाया तो आश्चर्य से मुँह फैलाकर वह रह गये, “खर्चीला हुआ जा

रहा है ? मानिक ? कौन देता है उसको खर्च करने के लिए ? मैं तो नहीं देता । देती हो न ? तुम्हीं ने उसकी आदत बिगाड़ी है । और वह पाता कहाँ से होगा ?” वह बहुत देर तक फिट-कारते रहे अपनी पत्नी को—“यह औरतों की बहुत बुरी आदत है, जो इस तरह के प्रेम से, मोह से, पाप से, लड़कों का भविष्य बिगाड़ती हैं । आज तुम उसे दस-बीस देकर परचा रही हो । कल वह सौ-दो-सौ माँगेगा, न दोगी तो क्रुद्ध करेगा और फिर सौ-दो-सौ के सौ ब्याज-समेत हजार-दो-हजार माँगेगा । चोरी करेगा, घर का नाश कर देगा । नाः, तुम मेरे लड़के के बीच में ऐसी बेवकूफ दस्तन्दाजी न किया करो ।”

इस बात के लिए इतनी गम्भीरता से उन्होंने फिड़का अपनी पत्नी को कि वह बेचारी रो पड़ी । सिटपिटाकर रह गई । क्या बोलती, बेशक उसी ने तो चोरी-लुके रुपये दे-देकर मानिक को ऐसा खर्चा होने दिया था । वह गरीब करे तो क्या करे, उसका मानिक जब उदास मुँह बनाकर, ठनगन कर, रार कर, उससे कुछ माँगता है, तो बिना दिये उससे रहा नहीं जाता । उसका बस चलता, और मानिक माँगता, तो वह अपना कलेजा भी मुस्कराती हुई निकाल देती उसके लिए । इतनी सम्पत्ति, ऐसी आमदनी और एक ही मानिक । भला ऐसे राजा के लिए वह क्या नहीं कर सकती ।

पन्नालाल अपनी पत्नी के हृदय के इस मृदु-रहस्य को रोष-पूर्वक जानते थे । उन्होंने अनेक युक्तियाँ सोची अपनी पत्नी को अपनी-सी बनाने की, मगर वह न बन सकी । पत्थर जल की छाती न तोड़ सका, हाँ डूब जरूर गया । वह उससे पार न पा सके । अस्तु, बहुत विचार-पूर्वक उन्होंने ‘डाइरेक्ट एक्शन’ लेने का विचार किया । मौन तोड़कर स्वयं मानिक को दुरुस्त करने का इरादा किया ।

“देखो,”—उससे कहा उन्होंने, “मैं तुमसे निहायत नाराज हूँ। मैं चुप रहता हूँ, इसका यह मतलब नहीं है कि मैं देखता या सुनता नहीं। तुम्हें मालूम नहीं, चुप रहने से देखने-सुनने की ताकत दसगुनी बढ़ जाती है। मैं चुप रहकर तुम्हारे सात परदों के भीतर की खबर रखता हूँ। तुम्हारी एक-एक हरकत को डोलते-बोलते देखता हूँ। मैं पूछता हूँ, अब तुम आवारगी करोगे? लुंगाड़ों के साथ घूमोगे और मेरी गाड़ी कमाई को बेरहमी और लापवाही से बर्बाद करोगे? मैं पूछता हूँ, तुम मेरे नाम पर, इज्जत पर, बुढ़ौती पर, धब्बा लगाओगे?”

मगर मानिक ने मानो पिता की फिटकार सुनी ही नहीं। वह सहमा-सा ज़रूर खड़ा था, क्योंकि, छुटपन से ही वह डरता था अपने प्रचण्ड पिता से। जब वह दस बरस का था तो दो चीजों के नाम से भी दहल उठता था—एक भूत के, दूसरा अपने पिता के। वह उन्हें भक्ति से नहीं, भय से पिता मानता था। उसे जितनी देर तक पन्नालाल के सामने रहना होता, वह सोचता गोया शेर के सामने खड़ा है। कब भागे, कब शांति की प्राणमयी साँस ले।

पन्नालाल को अपने प्रति पुत्र के उक्त भावों या दुर्भावों का पता नहीं था। उसके सत्रह साल का हो जाने पर भी उनकी पितृ-प्रकृति उसको दूध-पीता बच्चा ही समझती थी। उसके मन में भाव हो सकते हैं, उन भावों में शक्ति भी हो सकती है, ऐसी भावना भी उनके मन में नहीं होती थी। वह अपने पुत्र को ‘ठीक करने’ की शक्ति अपनी मुट्ठी में समझते थे।

“जाकर खा-पी लो; स्कूल चलना होगा आज। तुम्हें शर्म लगती है तो मैं पहुँचा दूँगा। हेड मास्टर से परिचय भी करा दूँगा कि पहचान लीजिये, यही मेरे लायक बाबू मानिकचन्द हैं जो फ़ेल भी होते हैं और शर्माते भी हैं।”

“बाबू जी,”—हिम्मत बटोरकर मानिक ने कहा, “मैं अब नहीं पढ़ सकता ।”

“नहीं पढ़ सकता ?”—फिर तड़पे बाबू पन्नालाल, “आवारगी कर सकता है ? शोहदों के साथ मटरगश्ती कर सकता है ? केवल भला काम नहीं कर सकता ! ओह ! बेटा, तुम मेरे पाप तो नहीं हो ? तुम शरीफ के घर में पैदा होकर पढ़ोगे नहीं ! ज्ञान की ओर बढ़ोगे नहीं !!”

मानिक मौन रहा । शायद उसका कलेजा उछल रहा था, शायद वह वहाँ से पत्ता तोड़ कहीं दूर भाग जाने की कल्पना कम्पित मन से कर रहा था ।

“अच्छी बात है, मत पढ़ो ।”—पन्नालाल असन्तुष्ट भाव से फिर बोले, “देखूँ कितने दिनों तक नहीं पढ़ते । मगर, इसका मतलब यह नहीं है कि मैं तुम्हें चारों ओर आवारगी करने दूँगा । जाओ, स्कूल के लिए नहीं, तो मेरे साथ कचहरी चलने के लिए तैयार हो । मैं तुम्हें अकेले न छोड़ूँगा । जाओ !”

मानिक चुपचाप उनके सामने से सरक गया । वह बहुत देर तक भन्नाये-से कमरे में टहलते रहे । इसी बीच में नौकर पेचवान और पीने का सामान सामने रख गया ! तब उन्हें होश आया,—अरे वाह ! इस लौंडे के फेर में मुझे पीने की याद ही न रही । तभी सोच रहा था कि दिमाग इतना भारी क्यों मालूम पड़ता है । इस नालायक से बक-भक करने में सुबह का सारा नशा ही फीका हो गया ।

वह पीने लगे और कचहरी के कागज देखने लगे । मगर, बीच-बीच में उनका ध्यान सब ओर से उड़कर मानिक की ओर चला जाता था । क्योंकि रह-रहकर वह जोर से, अपने आप बोल उठते—“वाह ! फिर करेगा क्या ? सोचता होगा बाप-दादे की कमाई तो भरी ही है । अरे बेटे, मैं एक धेला जो दूँ—हाँ, मैं भी

अपने सिद्धान्त का घोर पक्का आदमी हूँ।”

कचहरी जाते वक़्त बाबू पन्नालाल ने जब मानिकलाल को बुलावाया तो मालूम हुआ, वह घर में नहीं है। अभी खाना भी उसने नहीं खाया है, नहाया भी नहीं! इस समाचार पर पन्नालाल पुनः झल्लाये और यहाँ तक क्रुद्ध हुए कि बिना किसी कुसूर ही के नौकर बेचारे पर कई थप्पड़ भाड़ गये। नशे में बकते हुए, “साले, पान में सुपारी डालकर लाता है। मैं सुपारी खाता हूँ? पान में सुपारी खाई जाती है?”

नौकर बेचारा समझ गया कि आज मार ही खाने की तिथि है। तभी तो पान में सुपारी डालने के लिए बाबूजी सज़ा दे रहे हैं।

मानिक गायब ही रहा। पन्नालाल अकेले ही कचहरी आये। देर भी हो गई उस दिन। जब पहुँचे, बारह का घण्टा बज रहा था। उनके मुवक्किल—कचहरी से पाँच बीघा दूर ही—सड़क पर खड़े, उनकी बाट जोह रहे थे।

फाटक में घुसते वक़्त पन्नालाल ने देखा, छोटी-सी एक भीड़ किसी को घेरे खड़ी थी। कचहरी के मुख्तार थे, बाफ़ुर्सत चपरासी थे, गवाही में आये हुए मलिन-देही किसान थे। सभी निहायत दर्द-भरी आँखों से किसी को निहार रहे थे।

“कैसी भीड़ है?”—पन्नालाल ने अपने मुवक्किलों से दरियाफ़्त किया।

“हुज़ूर”—एक ने उत्तर दिया, “वहाँ, पास के पालनपुर गाँव का, एक गरीब और बूढ़ा किसान है। घंटे भर पहले सेशन अदालत ने इसके लड़के का फाँसी की सज़ा सुनाई है। तभी से बेचारा फूट-फूटकर रो और तड़प रहा है। गाँव के दुश्मनों ने दसा कर बूढ़े की बुढ़ौती में धब्बा लगाया है।”

“दुश्मनों ने दसा कर?” पन्नालाल ने मानो कुछ सोचते हुए

पृष्ठा, “क्या इसका लड़का बे-कुसूर था ?”

“बिलकुल बे-कुसूर हुआ,”—मुक्किल ने जवाब दिया, “हम सब खूब जानते हैं, इस मुक़दमे को। हमारे गाँव से क़रीब ही है पालनपुर। हमारे यहाँ आजकल यही चर्चा रोज़ होती है। एक बेवा और जवान कोइरिन से गाँव के दो आवारे और जोरा-वर, पैसे वाले, काश्तकारों की यारी थी। उसी आपस की लाग-डाँट में कोइरिन का उन्होंने खून किया और पुलिस को पूज कर, नक़ली चश्मदीद गवाह तैयार कर, फाँस दिया दो बे-कुसूरों को। उन दो में एक तो कोई कोइरी है, जिसे जनम-क़ैद मिली है और दूसरा इसी का लड़का है,—फाँसी पाने वाला।”

इसी समय भीड़ को चीरकर एक रूखा, दुबला, प्रेत-सा भयानक आदमी फाटक बाहर की ओर भपटा। ज़रा ही वह दौड़ा होगा कि पन्नालाल का दल उसके सामने आ गया। इस दल को देखते ही वह रुककर पागलों की तरह खड़ा हो गया। उसकी आँखें पन्नालाल पर जम गईं।

“आह, मुख्तार साहेब !”—वह बोला, “आपने चाहा होता तो आज मेरी गृहस्थी में आग न लगती। लोग कहते हैं आपकी जवान में यश है, आप उसे ज़रूर बचा लेते। पर मेरे पास रुपये नहीं थे, आपके पास हृदय नहीं था। बीच में लटक गया मेरा बच्चा—फाँसी पर। उफ़ ! मेरा कोमल कलेजा फाँसी पर लटका दिया जायगा—इसलिए कि आपने दया कर उसे बचाया नहीं !”

एकाएक बूढ़ा देहाती उत्तेजित हो उठा, “तुम मनुष्य हो ? नहीं, नहीं, तुम केवल मुख्तार हो। नाश हो तुम्हारी मुख्तारी का ! जैसे आज मेरी भोंपड़ी में आग लगी है, वैसे ही तुम्हारा महल भी नष्ट हो जाय; भस्म हो जाय। जैसे तुमने मुझे अपने बेटे के लिए रुलाया है, वैसे ही तुम भी अपने बेटे के लिए रोते-रोते

दम तोड़ो!”

पन्नालाल की ओर देखकर और बार-बार घृणा से पृथ्वी पर थूककर वह एक ओर चला गया। पन्नालाल श्रीहत से जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये। उनकी सारी तेजस्विता काफ़ूर हो गई। उन्हें ऐसा लगा—गोया उस बूढ़े का शाप उनकी चारों ओर प्रेताट्टहास कर नाच रहा है !

जवाहर धीरे-धीरे कुन्दन के काम लायक हो गई । कुन्दन सचमुच उससे दैहिक व्यापार नहीं कराना चाहती थी । उस व्यापार के लिए उसके मन में जैसी घृणा थी, उसे वही जानती थी । जवाहर को पाकर उसने मन-ही-मन यह निश्चय किया था कि इस बार वह जमाने को यह दिखा देगी कि समझदार वेश्या, यदि गन्धर्व-विद्या में निपुण हो, तो उसे अपनी अनमोल आत्मा बेचकर अनन्त अनादर खरीदने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ सकती ।

कुन्दन जब स्वयं युवती थी, तब हजार-दो-हजार से आरम्भ कर दस-पाँच रुपये तक उसने अपने सौन्दर्य और यौवन का सौदा किया था । पर ज्यों-ज्यों वह अनुभववती होती गई त्यों-त्यों उसके हृदय-पट पर उस व्यापार का काला-चित्र स्पष्टतर अंकित होता गया । उसके मन में अनेक बार यह विचार उठता कि यदि यही एक काम वेश्याएँ ज़रा क़ायदे से करें तो उनका सामाजिक महत्त्व कुछ-से-कुछ हो जाय । ओह ! चाँदी के टुकड़ों के लिए शरीर बेचकर मनुष्य की ये बच्चियाँ, कैसी मूर्खता से अपना यह और वह लोक बिगाड़ देती हैं । समाज का हीन-से-हीन प्राणी केवल कुछ रुपये लेकर इनके घरों पर धावा बोल देता है । कभी वासना से बेहोश अवस्था में, कभी नशे से पागल बन कर । जिन्हें 'भले' कहे जाने वाले प्राणी अपने द्वार पर भी नहीं खड़े होने दे सकते, वे इन देह-व्यवसायिणियों के कोठों पर आकर धूम-चौकड़ी मचाते हैं, अनाप-शनाप बकते हैं, ऐसी फूहड़-फूहड़ भाव-भंगिमा बनाते हैं कि लाज को भी लज्जा आ जाय । और पैसे के लोभ से, वेश्याएँ उनकी उन्मत्तता को बर्दाश्त ही नहीं

करतीं, गले से लगाती हैं ! अपने कलेजे के प्रियतम-रस से सींचती हैं !

ऐसे ही विचारों की बाढ़ जब उसके दिल में आई तभी उसने उस नवयुवक को 'अपना-सा' बनाकर रख लिया था। मगर, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। नवयुवक, उसके शरीर या हृदय के लिए उसकी ओर नहीं आकर्षित हुआ था। वह तो उसकी सम्पत्ति को लूटकर अपना धनाभाव मिटाना चाहता था। इसी से कुन्दन को उस उद्योग में सफलता और शान्ति के बदले असफलता और अशान्ति की प्राप्ति हुई।

मगर, जवाहर तो अभी बिलकुल जवान और अनुपम सुन्दरी है,—उसने मन-ही-मन विचार किया—इसको लेकर बहुत मजे में उस सिद्धान्त की परीक्षा की जा सकती है। उफ़ ! यदि वह सफल हो सके इस परीक्षा में ! यदि वह जवाहर की रूप-ज्योति के सामने तड़पा-तड़पाकर एक बार पातकी पुरुष-पतिगों के प्राण ले सके ! कैसी सुखी होगी उस दिन वह। कैसा सुन्दर बदला ले सकेगी वह धोखेबाज पुरुष-जाति से। हाँ, हाँ वह चेष्टा करेगी; जवाहर स्वयं यदि किसी के बाहुपाश में फँसना चाहेगी तो वह बाधा डालेगी; अपने अनुभव-मय उपदेश की पैनी-छुरी से वैसे बन्धनों को निर्दयतापूर्वक काट फेंकेगी। वह एक बार रतनपुर को, समाज को, संसार को यह दिखा देगी कि हज़ार पतित होते हुए भी, वेश्या हज़ारों पतितों को ता-ता-थेई नचा सकती है !

उसने जवाहर को समझा दिया—“बेटी, मैं जो कहती हूँ, तू भूलकर भी किसी पापी पुरुष के हाथों तन का सौदा न करना। हमें दस-पाँच लाख रुपये की तो ज़रूरत नहीं है। अपना घर है ही। बस, तन ढाँकने को कपड़ा और पेट पालने को चार रोटियाँ चाहिएँ हमें। इतना तो तू अपनी मुस्कराहट से पैदा कर सकती है—हाँ; मेरी कही मान। ये मर्दुएँ ऐसे कुछ होते हैं कि

अपनी औरत के चुम्बन तक से नहीं सिहरते और न मुस्कराते हैं; मगर, बाज़ार की परायी लड़कियों के एक इशारे पर नाचने लगते हैं। ये पत्थर-दिल जैसे अपनेपन के दुश्मन हैं। ये हाथ लगे मोती को मिट्टी और दूसरे की खिड़की में जड़े काँच को जवाहर समझते हैं। इन्हें मुट्ठी में रखने की एक ही युक्ति है, इनकी मुट्ठी में न आना।”

आरम्भ में कुन्दन ने अपने एक पुराने परिचित उस्ताद से, सारंगी के तारों पर, जवाहर को आ आ आ आ आ का अभ्यास कराया, इसके बाद सा-रे-ग-म-प-ध-नी-सा का और इन सातों स्वरों के भिन्न-भिन्न रूपों और अभ्यासों का। फिर हाथ से ताल देना सिखाया। इन बातों को वह ऐसी सरलता से सीख गई जैसे पहले ही से जानती थी। उस्ताद उसकी बुद्धि की कुशाग्रता पर मुग्ध हो गया। उसने अनेक बार कुन्दन की उपस्थिति में उसे आशीर्वाद देते हुए यह भविष्यद्वाणी की—“खुदा खुश रखे! जवाहर की समझ, सुभान अल्लाह! राजब की है! जरूर एक दिन यह रतनपुर का नाम जगमगा देगी।” उस्ताद ने सारे बाज़ार में एक-एक वेश्या के घर पर, उसकी प्रतिभा का वर्णन किया। इसका फल यह हुआ कि सुबह या दोपहर को जब वह उसे अभ्यास कराने आता और जवाहर अपनी वीणा-विनिन्दित स्वर से आ आ आ आ आ कर वायु की छाती में छेद करने लगती, तभी पास-पड़ोस की तमाम तवायफ़ें द्वेष से जुब्ध और आश्चर्य से लुब्ध होकर, खिड़कियों से गर्दन निकाल-निकालकर, एक-दूसरे से भेद-भरे इशारे कर, सुनने लगतीं।

“अरे, अरे!”—सामने वाली को सम्बोधित कर कोई जोर से व्यंग करती—“गौहर जान हैं!”

“सात हाँड़ी का कालिख ऐसी गौहर जान के चुड़ैल मुँह पर!”—सामने वाली बोलती, “तुमने उसे देखा नहीं? चट्टा-चट्टा

रंग है, जैसा मेरा तलवा । फूले-फूले गाल हैं, मानो भिलावाँ का धुआँ तापा करती है । देहातिन है—भुञ्च !!”

मगर, शाम को जब उसी भुञ्च दिहातिन की खिड़की के नीचे सारा बाज़ार आ जुटता तब वे पड़ोसिनियाँ उसके सौभाग्य के निकट-भविष्य को सोचकर, आह-मैं-न-भयी-मयी एक ठण्डी माँस खींचकर रह जातीं । और, बीस-पच्चीस दिनों बाद, जब वह कुछ गाने लगी तब तो उनकी आँखें चमचमाकर रह गईं । ऐसा बढ़िया गला ! ऐसी साफ़, सुरीली, दर्द-भरी, दिल में सीधे पैठकर गुदगुदाने वाली आवाज़ ! बाबा रे, आखिर यह देहातिन है कौन ? यह कौन-सा तूफ़ान उठाना चाहती है ?

कुन्दन ने पहले जवाहर को चन्द ‘चलती चीजों’ का अभ्यास कराया । उस्ताद को उसने सलाह दी—“उस्ताद जी, जवाहर बाई को आरम्भ में आप खूब मशहूर-मशहूर सीधी-सीधी चीजों का रियाज कराइये । जैसे पीलू का यह पद—

अंगने में कुइयाँ खोदाव मोरे राजा !

मैं भरूँ पानी तू देख तमाशा !!

एक वह ग़ज़ल तैयार करा दीजिये जिसे आधे हिन्दोस्तान के आवारे, बिगड़े दिल, अमीर से लेकर एक्केवान और बाबर्ची-खानसामे तक गाते हैं—गुज़र गया है ज़माना गले लगाये हुए !”

‘चीजों’ का वर्णन करते समय कुन्दन कभी-कभी, या अकसर, उन्हें गा भी देती; उस्ताद को बताने के लिए कि मैं भी कुछ कम गुणी नहीं हूँ । जवाहर पर यह प्रभाव डालने के लिए कि मेरी झुर्रियों से और लागरी से मुझे न पहचानो । मैंने भी एक ज़माना, इन्हीं टुकुर-टुकुर आँओं से, देखा है । हाँ !

इस तरह पहले एक दर्जन गाने उस्ताद ने तैयार कराये । इस बीच में खिड़की पर वह बराबर बैठती रही और कुन्दन

लोगों को बराबर यही बतलाती रही कि वह उसकी माँसी की ब्याही हुई लड़की है। उक्त वक्तव्य में अब वह इतना और जाड़ देती कि उसका पति असाधारण-साधारण पूँजी का आदमी है, मेरे नाते वह उसको बाज़ार में बैठाने पर—अपनी आमदनी के लिए!—तैयार है। मगर केवल गन्धर्व-विद्या के लिए। क्योंकि गाना-बजाना तो हमारा सतयुगी पेशा है।

इस वक्तव्य—और व्यवहार में इसकी कटु सचाई—से शहर के आशिक-मिजाज हैरान हो गये। सैकड़ों शौकीनों के कलेजे में, अपने ही से एक आदमी की बेटी को सबसे निम्न रुपये के बल पर बेइज्जत करने के लिए वासना के कलकतिये चूहे क्रुद रहे थे। वे चूहे जो जंगलियों से तिगुने कद्दावर, पचास गुने घृणित और सौ गुने ढीठ-चोर होते हैं। लोगों ने कुन्दन को चाँदी के तराजू पर तौला, जवाहर का सोने की बाँटों से वज्रन किया, मगर उनका पलड़ा हमेशा अंगद के पैर की तरह ज़मीन ही से लगा रहा। दशमुख को कौन कहे शत-शत मुख स्वर्ण-मुद्राएँ उन्हें न डिगा सकीं। वह अपने निश्चय पर दृढ़ रही, मृत्यु की तरह।

जवाहर के रूप, यौवन और उसकी रूम-भूम आँखों पर कब्ज़ा करने को जितने लालायित थे उनमें अनेक भावुक भले-मानसों के फ़रज़न्द भी थे। वे दुबले थे, सुन्दर थे, गोरे थे, देखते ही शरीफ़ और भले लगते थे। कुन्दन उनको दिल-भरी बातों को पहचानती, जवाहर उनकी उत्सुक आँहों में अकसर सच्चाई की सुगन्ध पाती। वे आते, पान मँगाते, सिगरेट-पर-सिगरेट फँकते जाते, जवाहर की ओर इस तरह देखकर ऐसा मंढ़ बनाते जैसे—‘तू मुझे मिल ही जा’, ‘आह-रे-मरा’, ‘आँखों में हलाहल है’।

जवाहर के आगे अपनी साख़ची और सम्पत्ति दिखाने के

लिए वे रुपयों को इस तरह लापवाही से फेंकते जैसे कोई साँस फेंके। जिस तरह प्रत्येक साँस जीवन की एक साँस कम करती है, वैसे ही उनकी उदारता द्वारा फेंका गया प्रत्येक रुपया उनके धनिक-जीवन की एक-एक साँस कम कर रहा था। मगर, इसकी उन्हें ज़रा भी चिन्ता नहीं थी। वे तो किसी भी मूल्य और शर्त पर एक बार जवाहर की उस तूफानी-काया पर अधिकार करना चाहते थे।

साधारणतः बाज़ार की गायिकाएँ तीन श्रेणी में बँटी थीं। प्रथम की फीस दस रुपये, द्वितीय की सात और तीसरे दर्जे वालीयाँ पाँच में बैठकर मुजरा करती थीं। इनके अलावा वे चौथी श्रेणीवाली भी थीं जिनके यहाँ कुली-कवाड़ी आशिकों की भीड़ होती। वे तीन रुपये में और कभी-कभी दान ही में अपने प्रेमियों को क्या-क्या सुख नहीं दे देती थीं।

शुरू में कुन्दन ने जवाहर को दूसरी श्रेणी में रखा। सात रुपये नक़द, आठ आने दो बार के पान के और चार आने एक डिब्बी केंची सिगरेट का मूल्य भी वह शौकीनों से वसूल करती। इतनी भीड़ होती उसके यहाँ कि वह प्रबन्ध न कर सकती। उक्त फीस में जवाहर केवल एक घंटा गाती, दो गज़लें, एक भजन और एक कोई देहाती पूरबी या बिरहा अथवा खयाल या नौटंकी की कोई दूसरी चीज़। जैसी सुनने वालों की फर्मायश होती। बिगड़े-दिल लाग एक मुजरा के ख़त्म होने के पुर्य ही दूसरे की फर्मायश करते; मगर, कुन्दन बाई अकसर ऐसी फर्मायशों को मीठे ढंग से नार्मज़ूर कर देती—“हुज़ूर, नीचे अभी दस आदमी बैठे हैं। आप कल फिर तशरीफ़ लाइयेगा। अरी जवाहर बाई, बाबू साहबान को अपने हाथ से पान तो खिला दो !” जवाहर पान देने के लिए सजग बनावट से बढ़ती। कुन्दन दाँत निकालकर शौकीनों के आगे मुस्कराने लगती—

“क्या करें बाबू, हम तो सारे बाज़ार की बाँदी हैं। आप सभी, नहीं-नहीं, शहर का मामूली-से-मामली आदमी तक, हमारे लिए सरकार है। हमें तो सभी को खुश रखने की फ़िक्र करनी पड़ती है।”

मानिकलाल पर पन्नालाल के 'डाइरेक्ट एक्शन' का उलटा ही प्रभाव पड़ा। पिता के सामने से हटकर जब वह अपनी कोठरी में आया, एकान्त में मन-ही-मन उनके तमाम वक्तव्य पर विचार कर गया, तब उसके मन में विद्रोह की विकट लालसा नाच उठी। हँ हँ !—उसने सोचा—मैं इतना बड़ा जवान हो गया और यह अब तक वही लड़कपन वाला रोव गाँठे जा रहे हैं। आखिर, औरों के भी पिता हैं—पर वे ऐसे मारू-काटू तो नहीं हैं। एक गोपाल ही के बाप को देखो ! कितनी उसे स्वतन्त्रता है। जो चाहता है, कर सकता है। उसे सौ-सौ रुपये पाकिट खर्च के लिए मिलते हैं। वह अपने ही घर में शराब की दावत भी दे सकता है, बाप ही के नौकरों से मित्रों के गिलासों में लाली भरा सकता है। एक मेरे पूज्यपाद हैं।

मुझ से नहीं पढ़ा जाता, मैं नहीं पढ़ूँगा, मेरे साथ क्या कोई जबरदस्ती कर सकता है ? मैं अब ज्यादाती नहीं बर्दाश्त करूँगा। हँ हँ ! जब देखो तब—तू—तैं—चुप ! गोया बेटा नहीं, जरखरीद गुलाम हूँ।

“स्कूल नहीं, तो कचहरी चलो !”—क्यों चलो ? मेरा सर घूमता है, मेरा दिल दुनिया के झंझटों के आगे बैठा-सा जाता है। मैं परीशानी नहीं चाहता; ऐसे ही मैं क्या कम परीशान हूँ। कोई क्या जानेगा कि मेरे कलेजे में कैसा कोलाहल है।

मगर नहीं, उनका दिया खाना जो खाता हूँ। बस, यही सबसे बड़ा गुनाह है मेरा। दुनिया में अपना बाप भी किसी को नालायक जान लेने पर चुपचाप भोजन नहीं दे सकता। अच्छी बात है, मेरे भी दो हाथ हैं, मैं अपनी रोटी आज से खुद पैदा

करूँगा। मैं कचहरी नहीं जाऊँगा, रतनपुर का त्याग करूँगा।

मानिक इसी नशे में उसी वक्रत चुपके से घर से बाहर हुआ। एक ओर चल पड़ा। मगर, रास्ते में उसके मन ने दूसरे ही पहलू से तर्क-वितर्क आरम्भ किया। कहाँ जाऊँगा—कौनसी नौकरी करूँगा? एन्ट्रेन्स फेलियर को, बड़े भाग्य हुए तो, पन्द्रह नहीं, बीस मासिक मिलेंगे। इतने से क्या होगा? सोचता हुआ वह गोपाल के घर पर आया। उस समय गोपाल अपने सजे कमरे में कुशन-कुर्सी पर बैठा चाय पी रहा था।

“आओ—आहा!—खूब आये।” —गोपाल उछल पड़ा, “धानू! धानू!” —नौकर को पुकारा उसने, “बाबू के लिए भी चाय लाओ। वहाँ नहीं—वह, हाँ—उस कुर्सी को यहाँ घसीट लाओ, मेरे सामने। बैठो।”

मानिक जब बैठ गया तब मानो गोपाल की चंचल आँखों ने उसके चेहरे पर उदासी और चिन्ता का विज्ञापन पढ़ा। वह चमका मन-ही-मन। दुनिया में उदासी कैसी? यहाँ कोई उदास क्यों होता है? फिर यह क्यों उदास है? इसको क्या कष्ट है? ओहो! हीरा...

“तुम्हारे चेहरे पर उदासी और परीशानी क्यों बरस रही है उस्ताद? रात में हीरा मिली थी क्या?”

“अजी नहीं,” —मानिक ने खीझ से कहा, “हीरा मेरे भाग्य में कहाँ? यहाँ तो मिट्टी भी खराब हुई जा रही है।”

“क्यों, क्यों?”

“क्यों का उत्तर यही है कि अब मैं रतनपुर का त्याग करने जा रहा हूँ। मेरे घर वाले मुझे घर में नहीं रहने देना चाहते।”

“कौन नहीं रहने देना चाहता? ओहो! समझ गया। तुम अपने पिताजी से परीशान हो। सुना है, बड़े तीखे मिर्जाज के हैं। मुझे तो उनकी बड़ी-बड़ी आँखें बड़ी भयानक-सी लगती हैं। एक

दिन की बात है, मैं तुम्हारी तलाश में तुम्हारे घर गया था। देखा दरवाजे ही पर बैठे वह हुक्का गड़गड़ा रहे थे। इस तरह घूरा उन्होंने मुझे कि मैं तो मन-ही-मन सिटपिटा-सा गया। ऐसी लाल-लाल आँखें तो सारे रतनपुर में ढूँढ़ने से न मिलेंगी। फिर मैं उलटे पावों लौट आया। किसकी हिम्मत ऐसी है जो उनसे कुछ पूछे-जाँचे।”

“मैं तो हैरान हूँ उनसे ...”—आजिजी से मानिक ने कहा, “जब देखो तभी गुरर-गुरर, काट-काट। बाप रे! ऐसा तो डिस्ट्रिक्ट जेल का जेलर भी भयानक न होगा। मैं आज ही यहाँ से कहीं रफ़-चक्कर होता हूँ।”

“कहाँ, कहाँ जाओगे?”—गोपाल ने दिल्लगी की, “मिहरबानी कर, थाना, पोस्ट-आफ़िस और ज़िले का पता मुझे देते जाना। शायद हुलिया कराना पड़े। क्योंकि, अपने बाप के तुम एक ही लायक हो, जैसे मैं। यह जानता हूँ, मैं घर में आग भी लगा दूँ तब भी मेरे पिता मुझे घर के बाहर न जाने देंगे। हम सब उसी में एक साथ ही जलेंगे। वैसे ही अपने अभिभावकों को भी समझो। यह दाँता-किटकिट ऊपरी ही है। हृदय में सौ में निन्नानवे माता-पिता एकाकार होते हैं।”

“मगर मेरे पिता निन्नानवे पिताओं से भिन्न हैं, वही सौवें पिता हैं जिन्हें तुम नहीं जानते। उनका दिल पत्थर का है, छाती फ़ौलाद की। मैं मर भी जाऊँ तो उन्हें ठेस नहीं लगेगी।”

“आखिर आज ही घर छोड़ने की समस्या क्यों खड़ी हुई?”

“वे ज़बरदस्ती मुझे स्कूल भेजेंगी। मैं नहीं जाऊँगा तो कचहरी पकड़ ले जायँगे। मुखतार हैं न। शायद कोई केस भी चला दें।”

गोपाल मानिक के व्यंग पर दिल खोलकर हँसा। इतना हँसा

कि उसकी हँसी में मानिक की उदासी भी बह गई। वह भी अपनी उक्ति पर एक बार खिलखिला पड़ा।

“कहीं आने-जाने की जरूरत नहीं।”—गोपाल ने सलाह दी, “मेरी तो पूरी राय है कि तुम स्कूल जाया करो। न जी लगे तो पढ़ना नहीं, केवल बैठे रहना। हॉकी, क्रिकेट और फुटबाल से मनोरञ्जन कर लेना।”

“मैं ऐसा नहीं कर सकता। मैं या तो कोई काम पूरे उत्साह से कर सकता हूँ या बिलकुल नहीं कर सकता। बीच का समझौता मेरी प्रकृति में नहीं है।”

“अच्छी बात है। मगर दूर भागने से फायदा? कुछ दिन मेरे बागीचे में चलकर टिको। वह यहाँ से दो कोस दूर है। वहाँ मेरे पिता तो कभी जाते ही नहीं, हाँ कभी-कभी मौज-मजा के लिए मैं जाया करता हूँ। वहाँ पीने और प्यार करने की बड़ी सुविधा है।”

“सुविधा तो सब है,”—शौर से विचार करते हुए मानिक ने कहा, “मगर पैसे भी तो चाहिएँ? मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं है। पचहत्तर रुपये थे, जो परसों उस दावत में खर्च हो गये।”

“अहाँ!”—लापर्वाही से गोपाल ने कहा, “हफ्ते भर तक तो तुम्हारा स्वागत यह खाकसार ही करेगा। हर तरह से, नाच से, रंग से, रँगीले रस से। इसके बाद एक तरकीब ऐसी है कि खुद तुम हज़ारों रुपये पा जाओ।”

“हज़ारों!”—मानिक चमक उठा, “कैसे यार!”

“कोई मुश्किल नहीं,”—गोपाल बोला, “मैं एक ऐसे महाजन को जानता हूँ जो डेढ़ हज़ार लिखाकर हज़ार रुपये तुम्हें आधी रात को भी दे सकता है। क्योंकि तुम तो कई लाख के उत्तराधिकारी हो। जब तुम सम्पत्ति के मालिक होगे, आसानी से वह

अपनी रकम वसूल कर लेगा। एक बार मेरे पिता ने भी मुझे तंग किया था—पैसों के लिए। उस वक़्त इसी युक्ति से मैंने काम लिया था। बाद में मेरे पिता को ख़बर हो गई। एक बार दस-पाँच गालियाँ ज़रूर उन्होंने दीं मुझे; मगर तुरन्त ही उसके रुपये अदा कर दिये और तब से बराबर मुझे ठीक तरह से खर्च देते हैं। अजी, दुनिया में सीधी अँगुली से घी तक नहीं निकलता।”

इस तरकीब को सुनकर मानिक का मूर्ख मन गोपाल की बुद्धिमानी पर लट्ठू हो गया। आहा! क्या सीधी तरकीब है! वह कई लाख का उत्तराधिकारी आज नहीं तो कल होगा ही, फिर कष्ट क्यों उठावे? पिता कुढ़ते हैं, कुढ़ें। वह मौज करेगा। गोपाल के बागीचे में ज़रूर कुछ दिन टिकेगा और इसी युक्ति से अपना काम चलावेगा। जब उसके पिता सीधी तरह से नहीं देते, तो वह जैसे पा सकेगा—लेगा।

वह नहीं जायगा घर—हफ़्ते-दो-हफ़्ते, महीने-दो-महीने तक। जब तक गोपाल के पिता की तरह उसके क्रोधी बाप का पारा भी उचित स्थान पर न उतर आवे। वाह-वाह! गोपाल कितना बुद्धिमान है। उसने कैसी बढ़िया युक्ति उसे बताई है!

ज़रूर अब इसी तरकीब से वह अपना काम चलावेगा। भागे क्यों? दर-दर ठोकरें क्यों खाये? वह तो लाखों का उत्तराधिकारी है। यह विशाल सम्पत्ति उसी के भोग के लिए तो है?

पारसनाथ से दिल खोलकर रोया भी न गया । थोड़ी ही देर में उनके 'बचिया'-विषयक विचारों ने आँसुओं की धारा रोक दी । वह अथाह चिन्ता-सागर में डूब गये । नहीं-नहीं, डूबने-उतराने लगे । डूब जाना तो धन्य है, घोर कष्टदायक अवस्था होती है डूबने-उतराने वाले की । डूब जाना मुक्ति है, अवसान है, कुशल-मंगल से 'उस पार' पहुँच जाने की सूचना है । डूबना-उतराना नारकीयदण्ड है, पीड़ा है, प्रतारणा है ।

वह कोठरी में लड़खड़ाते हुए टहलने और सोचने लगे— सोचने लगे बचिया की एक-एक बात को । बचपन से लेकर अब तक के उसके, उनके प्रति, प्रेम-मय, सरस व्यवहार को । वह उनके लिए कितना चिन्तित रहा करती, और शुरु ही से । वह सपने में भी उनकी आवाज सुनकर जाग उठती और जो कुछ सेवा कर सकती, करने को इच्छा प्रकट करती । वह जबतक घर में रहते, बेचारी उनका मुँह जोहा करती ।

ब वह किसी दिन सत्यानाशिनी शराब के नशे से पागल होकर बकते और भूमते हुए घर में आते, वह एक बार भय से अभिभूत हो जाती, उनके रूप-रंग-ढंग को देखकर; मगर, तुरन्त सन्निकट आती । बस्तर ठीक कर सावधानी से उन्हें लिटा देती । पंखा करने या सर में तेल मलने लगती । अक्सर, पारसनाथ इतनी पीकर आते जितनी उनसे पच न सकती । तमाम भोजन-पान उनके उदर में इस तरह खौलने लगते, जैसे स्पिरिट-स्टोव पर चावल खौले । ऐसा लगता गोया पेट में मदिरा दौड़ लगा रही है और बाहर निकलने के लिए उबल-उबलकर रह जाती है । वह सम्हाल न सकते । ओोो, ओोो अ ल ल ल ल ! वह

कै कर देते । और ऐसी दुर्गन्धि भरी कै कि उससे उन्हीं की नाक फटने लगती । उसके पावों पर बिष्टा-सा उनके पेट का मल लिपट जाता, बिस्तर नष्ट हो जाता, कोठरी बदबू से भर जाती । वह स्वयं उठकर भागते और घर के किसी दूसरे कोने में ज़मीन ही पर चित्त होकर बे-होश हो जाते । ऐसा प्रति महीने में एक, दो, तीन बार तो अवश्य ही करते ।

पर, बचपन ही से उनकी बचिया ऐसे मौकों की अभ्यस्त थी । वह पिता की दुर्वस्था पर क्षण-भर के लिए व्यग्र होकर रो तो अवश्य पड़ती, पर घबराती नहीं । तुरन्त ही घड़ों पानी बाहर के कुएँ से काढ़कर लाती, घण्टों तक बिस्तर की, कोठरी की, बे-होश पारस की दुर्गन्धि-मयी दाढ़ी और बिगड़े कपड़ों की सफाई करती—और बिना घिनाये या माथे पर शिकन डाले, प्रेम से, अपनत्व से ।

अरे वह हँसती कैसी थी, उसकी मुस्कराहट के साथ दुर्भाग्यमय होने पर भी तमाम घर मुस्करा-सा उठता था । वह एक ही थी ! पर पारस को उसका इतना सहारा था जितना किसी को करुणा-मयी माता का हो, सहानुभूति-मयी भार्या का हो, सेवक-पुत्र का हो । आज जब वह नहीं रही, तब उनको पता चला गोया असली सर्वनाश उनका अब हुआ है । उनको घर का एक-एक कोना चिढ़ाता-सा, तीव्र भर्त्सना करता-सा दिखाई पड़ने लगा । बाहर सन्न-सन्न हवा चल रही थी । हवा क्या छोटी आँधी चल रही थी । पारस को ऐसा लगा, गोया सारी प्रकृति उनके पापों के लिए उन्हें फिटकारने पर उतारू हो गई है । ओह ! अन्धड़ का स्वर कैसा रुखा है !!

उन्हें ऐसी आहट लगी मानो बाहर धीरे-धीरे कोई चल रहा है । कौन चल रहा है ? वह आई तो नहीं ! हो सकता है, कल के मेरे दुर्व्यवहार से रुठ होकर वह कहीं चली गई हो और फिर

कुछ सोच-समझकर आई हो ।

“बचिया ! बचची !!”

सहसा उनके मुँह से निकल गया । उत्तर में कोठरी की उपल-प्राण धरनें पुकार उठीं—“बचिया ! बचची !!” बाहर से हवा ने सन्न-सन्न स्वर में कहा—“बचिया ! बचची !!”

पारस समझ गये । वह उनका भ्रम-मात्र था । मगर, पावों की आहत किसकी थी ? घर में दूसरा कौन है ? “कौन है ? कौन है ?” उन्होंने पुनः आवाज दी । धरनें पुनः बोलीं—“कौन है ? कौन है ?” हवा पुनः सनकी—“कौन है ? कौन है ?” पारस का कलेजा काँपने लगा । उन्हें निश्चय हो गया कि उनके पाप प्रेत का रूप धरकर उन्हें हैरान करने आये हैं । बाहर घोर अन्धकार है, भीतर महा घोर ! अ...ह ! इस घर में कोई कैसे रह सकता है ?

धीरे-धीरे वह घर से बाहर की ओर निकले । चोरों की तरह अपनी ही पद-ध्वनि को दूसरे की मानते हुए अपनी ही साँसों को किसी विकट बेगाने की भय-भरी साँसें समझते हुए ।

गली में सन्नाटा था । घर-घर के दरवाजे बन्द थे । दूर से सियारों की श्मशान-रागिनी सुनाई पड़ रही थी । मानो पारसनाथ के सर्वनाश के आँगन में अमङ्गल के गान गाये जा रहे थे । गली में उनकी गति तीव्र हो गई । उनका दिल ऐसे धड़क रहा था मानो वह चोर हैं और उनका कोई पीछा कर रहा है । उनकी गति बढ़ी—और बढ़ी ! यहाँ तक कि थोड़ी ही देर में वह मुंशीगंज स्टेशनवाली सड़क पर दौड़ने लगे—बस्ती से स्टेशन की ओर ।

कोई आधा मील दौड़ने के बाद उन्होंने सोचा, आखिर वह जा कहाँ रहे हैं ? ‘कहीं तो नहीं’ उनके मन ने उत्तर दिया । पर

कहीं जाना तो होगा ही। अब उस प्रेतावास—घर—में उनसे नहीं रहा जायगा। अब वह मुशीगंज के सुखी और सौभाग्यशील समालोचकों को अपना अपमानित मुँह कदापि नहीं दिखा सकते। अब उनके दो ही निस्तारक हो सकते हैं—परदेश और भिक्षा।

मगर, सन्नाटी, काली रात में वह प्रकाश कैसा ? उस आम की बगिया में किसके घर में दीपक जल रहा है ? बस्ती के अच्छे-अच्छे अमीर भी आधी रात के बाद अचानक आवास में आलोक नहीं रखते। वह किस अमीर का घर है ?

पारस प्रकाश और बगिया की ओर देखने और सोचने लगे। धीरे-धीरे वह स्थान उन्हें परिचित-सा लगा। आह ! वही तो कलवरिया है। वहीं बड़े-बड़े घड़ों और पीपों में वह चीज़ भरी है जिसने उनका सर्वनाश किया है। वहीं उनका विकट मित्र वह कलाल भी है जो उदारता से उनको पिलाता है, लापवाही से उधार देता है। जिसने हजारों के वसन-वासन बदले में लेकर उनके सर्वनाश के पथ के प्रदर्शक का काम किया है।

चारों ओर अँधेरा है, मगर वहाँ दीपक जल रहा है ! देव-मन्दिर के प्रकाश सरेशाम ही ठंडे पड़ गये और शैतान के घर की रोशनी अभी तक चमक रही है, जल रही है। पारस के मन में पागलों का क्रोध जाग उठा, कलवरिया के विरुद्ध। वह घँसा तानकर अपनी हथेली पर मारने और दाँत किटकिटाने लगे। बकने लगे—

“इसने ही मेरा सर्वनाश किया है। कितने घरों में अँधेरा—उफ़ ! मेरे भयानक घर के अन्धकार की तरह !—हो गया होगा, इस दानव-प्रकाश के लिए। नाश हो इस दीपक का ! और मेरे ही हाथों नाश हो !”

वह पुनः दौड़े, मगर स्टेशन की ओर नहीं, कलवरिया की

ओर । जैसे एक ही साँस में वह उसके द्वार पर पहुँचे । उन्होंने देखा, दर भीतर से बन्द था । वह प्रकाश उसके उस बड़े छिद्र से आ रहा था जिसे कलाल ने इसलिए दरवाजे में बना रखा था कि रात-बिरात में आनेवाले पियक्कड़ विमुख न फिर जायँ । वह दूर ही से जानें कि प्रकाश है, कलाल जाग रहा है । यदि कदाचित् वह सो भी जाय तो परिचित आगन्तुकों को कोई बाधा न पड़े, इसलिए छिद्र इतना बड़ा बनाया गया था कि उसमें हाथ डालकर भीतर की सिटकिनी मज्जे में खोल दी जाय । अनेक बार इसी युक्ति से पिछली रातों में पारस ने स्वयं वहाँ पर मदिरा-विलास किया था ।

मगर, आज तो वह कुछ और ही करेंगे ।

धीरे से दरवाजा खोल वह भीतर घुसे । चारों ओर सन्नाटा और दुर्गन्ध का राज्य था । कई पियक्कड़ ज़मीन या चटाई या नाबदान पर गाफिल पड़े अपनी नाकों से बेख़बरी की भद्दी शह-नाई बजा रहे थे । पूर्वी-कोने के दालान में पत्थर का एक ऊँचा-सा चबूतरा था जिस पर कई घड़े ढँके रखे थे । आसपास अनेक बोतलें भी पड़ी थीं । वहीं एक चटाई पर गल्ले के सन्दूक पर तकिया किये कलाल बेख़बर पड़ा था । उसकी आँखें अधखुली थीं, जैसे जागता हो, मगर नाक बोल रही थी । पारस समझ गये आज उसने भी गहरी पी है । कलाल के सरहाने दीवार में बने मिट्टी के दीवट पर मिट्टी के बरतन में मीठे तेल की मोटी बत्ती जल रही थी । वह उसी ओर बढ़े । उन्होंने उसी दीपक को कलवरिया की छाजन में छुला देने का निश्चय किया था ।

मदिरा की महँक तीव्र थी । पन्द्रह-बीस घंटे से चिन्ताओं से लड़ते-लड़ते पारसनाथ का माथा थकित और पराजित-सा हो रहा था । वह एक युग के पियक्कड़ थे । कलाल के और उन बढ़े-बढ़े

घड़ों के पास जाते-जाते वह जैसे मन्त्र-मुग्ध हो गये। वे घड़े, वे बोटलें, वह दुर्गन्ध-मयी सुगन्ध उन्हें अपनी ओर खींचने लगी। एक ही क्षण में वह भूल गये कि वह कलवरिया में आग लगाने आये थे। उनका गला सूखने लगा। उन्हें प्यास लग आई।

उन्होंने सोचा—आज से पीना तो छोड़ना ही है, फिर एक बार और क्यों न पी लूँ ? कलाल सोया है, उसकी साँसें कह रही हैं कि वह आठ बजे सुबह तक करवट तक बदल न सकेगा। फिर कलवरिया में आग लगाने के पूर्व एक बार भरपेट और क्यों न पी लूँ ? ओह ! प्यास लगी है !!

धीरे से एक बातल खोल, उसे मुँह में लगा वह घट्—घट्—घट् करने लगे। बिना विराम और चखने के। दारू आग की लकीर की तरह उनकी छाती में पैठने लगी।

वह गये थे शैतान के घर में आग लगाने, पर शैतान ने क्षणभर में उन्हीं के घर में आग लगा दी ! शैतान भी, भगवान की तरह, उनके घर के एक-एक कोने से परिचित था !

पन्नालाल की, कचहरी के कामों में, उस दिन तबीयत न लगी। न तो उत्साह से वह अपनी प्रिया पेया ही पी सके और न मुक़दमों में बहस ही कर सके। शाम को जब घर लौटे तो बराबर उसी वृद्ध देहाती और उसके शाप के बारे में सोचते हुए। उन्हें कुछ ऐसा विश्वास था कि देहात के लोग देखने ही में दरिद्र होते हैं, मगर उनके चीथड़ों के कोनों में शहरी मुक्किलों से कहीं अधिक रुपये बँधे होते हैं। ऐसा ही उस दिन उस बूढ़े गरीब के बारे में भी उन्होंने अन्दाज़ लगाया था। मगर आज उन्हें अपनी भूल मालूम हुई।

जीवन में शायद पहली बार आज उन्हें अपनी अर्थ-लोलुपता पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने सोचा—ओह ! ज़रा-सा मेरे असन्तोष ने एक गरीब का सर्वनाश कर दिया। आखिर मुझे कमी ही क्या थी ? मैं चाहूँ तो बरसों तक अमीर-गरीब सभी के मुक़दमे बिना फ़ीस लिये और बिना गाड़ी-भाड़ा लिये लड़ सकता हूँ। फिर भी कुछ रुपयों के लिए मैं वज्र की तरह कठोर होकर सभी मुक्किलों की विपत्ति में महाविपत्ति बन जाया करता हूँ। उस दिन वह बेचारा कैसा गिड़गिड़ा रहा था—और मैं किस तरह नफ़रत से उसकी दरिद्रता को फ़िड़क रहा था। अब मैं हजार चेष्टा करूँ तब भी उसके अभिशाप को लौटा नहीं सकता। उसके बेटे को फाँसी के तख्ते से बचा नहीं सकता। मुझमें प्रतिभा है, ठीक है; मैं शहर के सैकड़ों वकीलों से आगे रहने वाला मुक़्तार हूँ, ठीक है; मगर इसका अर्थ यह तो नहीं होना चाहिए कि मैं दानवों की तरह अपनी शक्ति का दुरुपयोग औरों के रक्त-शोषण ही के लिए करूँ। यदि आज मैं मर जाऊँ...

मर जाऊँ...पन्नालाल मन-ही-मन मृत्यु की भावना से काँप उठे। वह ऐसे कायर कभी नहीं थे जैसे आज। उन्होंने सोचा लड़का इस तरह का आवारा हुआ जा रहा है। वह पैसे को पैसा और रुपये को रुपया ही नहीं समझता। ऐसी हालत में मेरी मृत्यु का अर्थ सिवा मेरी सम्पत्ति के नाश के और क्या हो सकता है? कौन सम्पत्ति? वही जिसे मैंने गरीबों और अमीरों, भलों और बुरों को एक भाव से कटे नाँबू की तरह गार-गारकर एकत्र किया है? उसी सम्पत्ति को मेरा मानिक मिट्टी की तरह, कूड़े की तरह अपने घर से फेंक देगा? सिगरेट और तम्बाकू की तरह जलाकर खाक कर डालेगा?

जब वह गाड़ी से अपने दरवाजे पर उतरने लगे, उन्हें शरीर में कुछ दर्द-सा मालूम पड़ा। हाथ से माथे को जो स्पर्श किया तो वह गरम मालूम पड़ा। उन्हें ऐसा भासित हुआ जैसे ज्वरांश हो।

घर में घुसते ही नौकर ने खबर दी, कई आदमी उनके आसरे में बैठे इन्तज़ार कर रहे हैं। कान हैं? पूछने पर पता चला—वही वर देखने वाले। वह बहुत खींके उस समय उन वर देखने वालों को उपस्थित सुनकर। अगर उनकी तबीयत ठीक होती, वह अपने स्वभाव में होते, तो अवश्य ही इस वक्त पुनः नौकर पर दो-चार हाथ भाड़ते। इसलिए कि वह जानता है कि यह वक्त उनके आराम करने का है। फिर उसने उन मूर्खों को बैठने ही क्यों दिया?

“मानिक आया?”—रुखे स्वर से पूछा उन्होंने नौकर से। उसने—“नहीं, हुजूर! बहुत तलाश करने पर भी छोटे सरकार का कहीं पता नहीं चला।”—उत्तर दिया। पन्नालाल को इस बार क्रोध नहीं आया, बल्कि वह सन्न-से रह गये। उन्हें मन-ही-मन पूरी आशा थी कि इस वक्त उनका लायक घर पर मिलेगा मगर अबतक वह नहीं आया यह बात उन्हें चिन्तामयी मालूम पड़ी।

खैर, बैठक में वर देखने वाले बैठे थे। पहले वह उन्हीं के पास गये।

“कहिये,”—रुखे स्वर से उन्होंने पूछा, “कैसे आगमन हुआ ?”

“हमने……”—लड़की का पिता बोला, “बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ और सोच-समझकर अन्त में आप ही की शरण में आने का विचार पक्का किया है। चार हज़ार मेरे लिए बहुत हैं, फिर भी हम हाज़िर हैं। हम आप ही के यहाँ सम्बन्ध करेंगे। आप थके हैं, कचहरी से परीशान आ रहे हैं, यह हमें मालूम है। अतः आज आप एक दिन निश्चित कर दें जब कि हम आवें और आरम्भिक रस्में पूरी करें।”

“हा हा हा हा !” रुखाई से हँसकर पन्नालाल ने कहा, “बेशक आप लोग अच्छे आसामी हैं; मगर यह आपको मालूम है या नहीं कि मेरा लड़का आवारा है ?”

“आवारा है !”—मञ्जाक़ समझकर लड़की के बाप ने अविश्वास प्रकट किया, “ऐसा नहीं हो सकता। गुलाब के पेड़ में भटकटैया का फूल नहीं लग सकता। कृपा कर अब हमें टालिये नहीं। हमने तो निवेदन कर दिया कि हम हर तरह से आपकी सेवा में हाज़िर हैं।”

पन्नालाल ने टोपी उतारकर लापवाही से ज़मीन पर फेंक दी। नौकर को अपनी देह पर से कोट उतारने का इशारा किया और फिर लस्त-पस्त-से आराम-कुर्सी पर पड़ रहे।

“क्षमा कीजिये,”—नम्रता से वह बोले, “आज मेरा जी ठीक नहीं है। मगर, ठीक होने पर भी मैं अपने लड़के का ब्याह न करूँगा। जब मैं, उसका बाप, स्वयं समझता हूँ कि वह आपकी लड़की को इज्जत और शान्ति से न रख सकेगा तब किसी तरह भी उसकी शादी नहीं कर सकता। आप विश्वास मानिये, मेरा

पुत्र मेरा सर्वनाश करने के लिए पैदा हुआ है। मैं पहले इस बात को नहीं जानता था, पर जीवन में अक्सर ऐसे नीरस और कठोर सत्य अनायास ही हमारी आँखों के आगे आते हैं। मनुष्य का यह कर्तव्य है कि इनसे सावधान होकर लाभ उठाये, साधारण मोहों से बचकर। अब इस विषय में अधिक बातें व्यर्थ होंगी। मैं जबतक उसे उसकी स्त्री के योग्य नहीं समझता, अपनी जानकारी में उसका ब्याह कदापि न होने दूँगा।”

लाचार बेचारे लड़की वाले लौट गये। मन-ही-मन पन्नालाल के निश्चय पर पछताते हुए। क्योंकि उनकी विपुल सम्पत्ति के लिए उनके मन में बड़ा लोभ था। किस लड़की वाले को इतनी बड़ी सम्पत्ति का एकाधिकारी वर नसीब होता है? लड़का आवारा है तो यह कौन-सी बड़ी बात है। इस उम्र में तो अक्सर अमीरों के लड़के कुछ मनचले हो जाते हैं। मगर इसके लिए उनका ब्याह तो रुकता नहीं। बल्कि, लोग शीघ्रता से ऐसे आवारों को दुनिया के बन्धनों में बाँधकर वश में करने की कोशिश करते हैं। मगर पन्नालाल के निश्चय के आगे कोई क्या करे।

नौकर तम्बाकू भरकर पन्नालाल के सामने रख गया, पर उस ओर उन्होंने ध्यान भी नहीं दिया। वह आँखें बन्द किये पड़े रहे। नौकर सन्न भ्रम हुआ, आज मालिक का मिजाज ठिकाने नहीं है। उसने फौरन घर में मालकिन को सूचना दी। वह तुरन्त ही बैठक में आई।

“यहाँ पड़ कैसे गये?”—धीरे से मानिक की माँ ने दरियाफ्त किया, “हाथ-मुँह नहीं धोओगे? कैसी तबीयत है?”

एक बार आँखें खोलकर पन्नालाल ने पत्नी की ओर देखा और पुनः पूर्ववत् पड़े रहे। उनसे कुछ बोला न गया। अनेक भाव उनकी छाती में तूफान की तरह हाहाकार कर रहे थे। पत्नी ने उनके माथे पर हाथ रखा, वह भिन्नककर पीछे हट आई।

“हे भगवान ! तुम्हें तो आग की तरह बुखार लगा है । माथा तवे-सा जल रहा है । अरे, अरे ! कहाँ गया । ज़रा किसी हकीम या डाक्टर को तो बुला ला । हे राम ! इन्हें क्या हो गया है ? सुबह से ही ‘उसका’ पता नहीं और इस वक़्त इनकी यह हालत !”

हकीम के आते-आते पन्नालाल का ज्वर साधारण से असाधारण हो गया । उन्होंने आकर इन्हें पलङ्ग पर लिटाया और रात-भर कोई दवा न देने की सलाह दी । रात-भर मानिक की माँ, घर की महरी और नौकर पन्नालाल के पलङ्ग के पास जागते बैठे रहे । उनका ज्वर ज़रा भी न कमा । वह बराबर मानिक का नाम ले-लेकर ज्वरावेश में बरतते रहे । कहते रहे—“तू मेरा सर्वनाश कर देगा । मैं तुझे एक कौड़ी भी न दूँगा । देखूँ तो कैसे आवारगी करता है । अरे-अरे आवारे ! कमाकर बदमाशी कर ! बाप-दादों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाना शराफ़त नहीं कमीना-पन है । मैं इसके लिए तुझ पर मुक़दमा तक चला सकता हूँ । हूँ—हूँ बच्चू ! मैं बड़ा नीरस और अपने सिद्धान्त का पक्का आदमी हूँ ।”

सुबह हकीमजी ने देखा, मुखतार पन्नालाल के सारे शरीर में बड़े-बड़े लाल-लाल दाने फूट निकले थे ।

उन्होंने बताया, शराब की जो गर्मी इनकी देह में इकट्ठी हो गई थी, वही चेचक के रूप में फूट पड़ी है । भयानक, घातक, चेचक !

“मगर, कोई चिन्ता की बात नहीं ।”

हीरा तेरह महीने बाद ससुराल से रतनपुर लौटी थी। गौने के ६ महीने बाद भी एक सायत पड़ रही थी और हीरा के पिता उसी समय उसे लिवा लाने को तैयार भी थे, पर गरीबी बुरी होती है। उन बेचारों के पास इतने पैसे ही नहीं एकत्र हो सके कि वह लड़की को लिवा लाने की हिम्मत करते। तबतक वह हीरा के ब्याह-व्यय के धक्के ही से नहीं सम्भल सके थे। इसके बाद पण्डितों ने न जाने क्या देखा पत्रे में कि पूरे सात महीने तक दूसरी सायत नहीं सधी।

हीरा की माँ बहुत रोई-गिड़गिड़ाई कि—‘दुधड़ी’ की तरह कोई आपत्कालिक सायत साधकर लड़की बुला ली जाय। नहीं तो, उसे वहाँ बेगानों के बीच में बड़ी तकलीफ होगी। उसका नन्हा-सा मुँह कुम्हँला जायगा। साथ ही लोक-निन्दा की चिन्ता भी उसे कम नहीं थी। मुहल्ले वालों ने कानोंकान फुसफुसाना आरम्भ कर दिया था, “बाबा रे ! एक बार जो बेचारी गई तो फिर नैहर का मुँह देखना नसीब न हुआ। हे परमात्मा, गरीबी किसी को न दो। इसके मारे बेट्टी-बेटे भी तीन-तेरह हो जाते हैं !” लोगों की इस क्रूर सहानुभूति का भी हीरा की माँ पर बड़ा प्रभाव पड़ता था।

मगर उसके पिता तो माँ नहीं थे। वह उतने दिनों में दो बार स्वयं उसको देखने रामपुर गये, दो बार पत्र-पुष्पम् के साथ नाई को भेजा, मगर लड़की को बुलाया तेरह महीने बाद ही। रामपुर में जब पिता के पैर पकड़कर हीरा रोने लगती—“बाबा, मैं यहाँ मरी जा रही हूँ। मुझे खाने या पीने की तकलीफ नहीं, मगर न जाने क्यों मेरा मन यहाँ से भागता है। ऐसा लगता

है मानो कैदखाने में पड़ी हूँ ।” तब वह उसे समझाते-बुझाते—  
 “बेटी, अब भागने से रामपुर तो छूट न सकेगा । मुझे तो यहाँ कोई भी ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती जिससे तुझे असुविधा हो । पगली, मुहल्ले की सभी लड़कियों से तेरी ससुराल अधिक पैसे वाली है । सबसे हिल-मिलकर रह, यही औरतों की शोभा है । बस, इस बार वसन्त आया कि मैं तुझे विदा करा ले गया ।”

हीरा बेचारी विवश चुप रहती । माँ उसके सामने होती तो अवश्य ही वह उसे कुछ ऐसी भेद-भरी बातें अपने असन्तोष के बारे में बताती कि वह दंग रह जाती । मगर पिता से वह क्या कहती ? कैसे कहती ? अतः उतने दिनों तक उसे भेलना ही पड़ा ।

रतनपुर आने पर एक बार पुनः मुहल्ले की लुगाइयों की भीड़ उसे देखने को दूट पड़ी । किसी ने यह देखा कि मोटी-ताजी है या नहीं और उसे दुबली देखकर निराश हो गई, अपनी किसी प्रेमिनी से बोली, “जान पड़ता है ससुराल वाले पूरे सोंठ हैं । न तो पेटभर खाते हैं और न तनभर पहनते हैं । देखो न यहाँ से हीरा कसी तगड़ी-तैयार गई थी, जैसे बाघिन । कैसी सूखकर लौटी है, जैसे छुहारा !” उसकी सखी ने समर्थन किया, “ठीक कहती हो बहन, जरूर वहाँ वाले इसे कष्ट देते होंगे । अरे गरीब की बेटी की ससुराल में भी पूछ नहीं होती । बात-बात में ताने मिलते हैं ।”

किसी ने उसके तन पर कम गहने देखकर उसकी माँ से दरियाफ्त किया, मामला क्या है ? हीरा के नग-नगीने क्या हुए जो विवाह पर उधर वाले लाये थे ? उसकी माँ ने उत्तर दिया, “हीरा के बाबा ने उसके गहने वहीं रख दिये हैं । यहाँ लाना जोखिम मोल लेना था बहन । हम गरीब ठहरे, उनमें से एक मुँदरी भी इधर-से-उधर हो जाती तो कन्या का धन हम कहाँ

से पूरा करते । दुनिया भयानक है ।”

बेशक हीरा मुर्झाई और उदास आई थी ससुराल से, लेकिन रतनपुर में पाँव धरते ही उसकी शिथिलता अन्तर्धान हो गई । रामपुर में बराबर एक ही मकान में बन्द-बन्द रहने से उसके हृदय का सारा उत्साह सूखकर जैसे पीला पड़ गया था । यहाँ मुक्त वायु में साँस लेकर वह पुनः हरी हो चली । तीन-चार दिन तो वह मारे संकोच के, इच्छा रहते हुए भी, घर के बाहर न निकल सकी । मगर, एक दिन सन्ध्या को जब उसके बाबा किसी काम से कहीं चले गये, वह घर के बाहरी दरवाजे पर आई । उसी दरवाजे पर जिसे ज़रा-सा खोलकर वह गौने के पहले अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से किसी को देखा करती थी । अब साल भर बाद उस स्थान पर पहुँचकर वह कण्टकित हो उठी, उसकी आँखों में स्नेह की फूहियाँ ताकने लगीं ।

उसने देखा सामने पड़ोसी का घर सुनसान था । दरवाजा भीतर से बन्द था । उस बैठक की खिड़कियाँ भी बन्द थीं जिसमें बैठकर मानिक उसकी आँखों को आँखों से ढूँढ़ करता था । खिड़कियों के बन्द दरवाजे पर मकड़ियों ने अनेक जाले तान रखे थे और जब हीरा की नज़र पड़ी उस समय भी वे अपनी दुनिया के नये-नये ताने-बाने में तेज़ी से मशगूल थीं । हीरा को मानिक के द्वार का यह दृश्य मन-ही-मन कुछ असगुन-सा मालूम पड़ा । वह सोचने लगी, इधर सन्नाटा क्यों है ? मुझे चार-पाँच दिन यहाँ आये हुए, मगर अभी तक मानिक की माँ मेरे घर पर क्यों नहीं आई ?

उसके मन में ऐसी कुछ उत्सुकता जागी कि उसने उसी वक्त अपनी माँ से मानिक और उसके परिवार के बारे में कुछ पूछने का इरादा किया । वह दरवाजे भेड़ने के लिए तैयार भी हुई । मगर इसी समय मानिक के दरवाजे पर एक पालकी गाड़ी

आकर खड़ी हो गई। हीरा उससे उतरने वालों को देखने के लिए रुक गई।

उसने देखा गाड़ी से एक काला साहब उतरा जिसकी मूँछें मुड़ी थीं, पेट ज़रा भारी था और हाथ में लिपटे हुए रबड़ की नालियाँ थीं। वह पहचान न सकी उस व्यक्ति को, क्योंकि वैसे आदमी को मानिक के घर में आते-जाते उसने कभी देखा ही नहीं था। साहब के पीछे एक मेम भी घर में घुसी जिसके हाथ में चमड़े का छोटा-सा बक्स था और माथे पर टोपी की जगह सुफ़ेद रुमाल बँधा था।

“माँ...!”—घर में लौटकर उसने दरियाफ़्त किया, “सामने वाले कैसे हैं? उनमें से कोई दिखाई नहीं पड़ता।”

“अरी बेटी!”—हीरा की माँ ने उत्तर दिया, “मानिक के घर की हालत न पूछ। सब चौपट हो गया।”

“चौपट हो गया!”—हीरा माँ का मुँह निहारने लगी, ताज्जुब से, सहसा उसे विश्वास नहीं हुआ।

“हाँ बिटिया!”—वह बताने लगी, “सारी गृहस्थी नष्ट हुई जा रही है, एक तरह से हो गई है। भगवान कभी मुर्दों को भी कुपूत न दे। उसी मानिक ने यह सब चौका लगाया है।”

“कैसे माँ? कैसे माँ??”—शंका से साँवली होकर हीरा ने, माँ के अधिक सन्निकट होकर पूछा।

“अरे! वह आवारा हो गया। तू जब रामपुर गई उसके दूसरे या तीसरे महीने ही से उसके रंग-ढंग बदलने लगे। वह दिन-दिन, रात-रात भर घर से गायब रहने और लुंगाड़ों के साथ छैलचिकनियाँ बना फिरने लगा। बड़ी-बड़ी शिकायतें उसकी चारों ओर फैली हुई हैं।”

“वह क्या आजकल भी घर में नहीं है? अभी मैंने भाँककर देखा, उनके दरवाजे पर जैसे प्रेत नाचते हों।”

“अरे ! उसका बाप बीमार है न । तीन महीने से । और इतने ही दिनों से वह घर से, नगर से, गायब है । कहीं पता ही नहीं चलता ।”

“खोज तो बहुत हुई होगी—उनकी ।”

“अरी बेटा !”—दुख से उसकी माँ ने कहा, “एक महीने तक तो पन्नालाल की ऐसी बुरी दशा थी कि देखने वालों के रोंगटे खड़े हो जाते थे । उन्हें माता निकली थी—बड़ी । सारी देह तो उनकी सड़ गई थी । उस वक्त किसे इतनी फुर्सत थी कि मानिक को ढूँढ़ता । उसकी महतारी बेचारी चारों ओर के दुखों से पगली-सी हो गई है ।”

मानिक-परिवार की दुर्गति की कथा सुनकर हीरा की आँखें छलक आई ।

“लोग कहते हैं,”—उसकी माँ बोली, “दस हजार रुपये खर्च होने पर पन्नालाल की जान शीतला से बची है । बड़े-बड़े—और कलकत्ता तक के—डाक्टर आये थे ।”

“अब भी डाक्टर आते हैं ?”—हीरा ने पूछा ।

“आवेंगे न तो क्या करेंगे । जिसके घर में दुर्भाग्य आता है उसके यहाँ इन्हीं की तो भीड़ होती है । वह बेचारे जब चेचक से बचे तभी से उन्हें पक्षाघात हो गया है । अब उनके बचने की कोई आशा नहीं । पानी की तरह रुपये बहाये जा रहे हैं । अदालत की आमदनी तो पन्नालाल की बीमारी के साथ-साथ बन्द ही है, ज़मींदारी का काम भी चौपट हुआ जा रहा है । जो जहाँ ही है, लूट-खसोट रहा है । मानिक के मामा आजकल घर का काम देखते हैं । उधर उस लड़के का कहीं पता ही नहीं है । सुना है उसके नाम अखबारों में घर लौट आने के लिए चिट्ठियाँ छपाई गई हैं । सुना है...”

“क्या सुना है माँ ?”

“सुना है वह बम्बई में है, सुना है वह नैनीताल में है। एक की जगह दो और चार लिखकर वह रुपये कर्ज लेता है और पीता है, दुराचार करता है। आह ! मुझे जब उसकी माँ के दुख का ध्यान आता है, मेरी छाती फटने लगती है। हे भगवान !”

मगर हीरा ने अपनी माँ की अन्तिम बातें सुनी ही नहीं। एक ही साल में मानिक में और उसकी फूलती-फलती गृहस्थी में सर्वनाश ने जो परिवर्तन कर दिये उसकी कहानी से हीरा के अनेक मधुर सपने बिखर गये। जैसे अन्धड़ में भुस का ढेर।

वह दीवार से टिककर, नीचे सर झुकाये, न जाने क्या-क्या सोचने लगी। उसका माथा चक्कर खाने लगा। उसकी संज्ञा-शिथिल होने लगी।

पन्नालाल की परिचर्या के लिए शहर के डाक्टरों के इच्छा-नुसार दो ईसाइन नर्सें रखी गई थीं। दिन और रात के चौबीस घंटों में बारी-बारी से उनके पास रहकर वही उनकी सेवासुश्रूषा करती थीं। उनकी पत्नी को उनके सामने जाने से भी डाक्टरों ने मना कर रखा था। क्योंकि उन्हें देखते ही वह न जाने क्या-क्या बकने-भकने लगते। कहने लगते कि उन्हीं के अपराध अर्थात् पुत्र-दुलार से, आज उनकी गृहस्थी में आग लग गई है। उन्हीं ने उनके लड़के को चौपट कर डाला है।

चेचक से सचमुच पन्नालाल अच्छे हो गये थे; यहाँ तक कि उनकी नसों में शुद्ध रक्त दौड़ने लगा था, उनके चेहरे का रंग लौटा आ रहा था, बकने-भकने की आदत कम हो रही थी। मगर, एक दिन, डाक्टरों की अनुपस्थिति में, उन्होंने नौकर से जबरदस्ती थोड़ी शराब माँगकर पी ली। जिसके लिए डाक्टरों ने हज़ार बार मना कर रखा था। बस, वही शराब उनके लिए विष की घूँट बन गई। शरीर का ताप एकाएक ऊँचा हो गया, प्रलाप बढ़ गया और पुनः डाक्टरों के सँभालते-न-सँभालते उन्हें पक्षाघात हो गया। दाहना गाल, हाथ, पाँव सब सूने हो गये।

इसीलिए इस बार नर्सों की नियुक्ति की अधिक आवश्यकता हुई, जिससे अब उनसे कोई कुपथ्य न हो जाय। उनकी पत्नी दो-तीन बार अवश्य उनके सामने आती, वह बुलाते, मगर नर्सों के आदेशानुसार वह बेचारी हमेशा मौन ही रहती। जब पन्नालाल आवेश में बकने लगते, तब नर्सें उन्हें स्वास्थ्य की दुहाई देकर शान्त करती।

पन्नालाल अपने बड़े बैठकखाने में साफ़ पलंग पर पड़े थे।

उनकी एक ओर स्टूल पर पात्र में स्वच्छ जल, साबुन और तैलिया रखा था, दूसरी ओर मेज पर औषधियों की अनेक छोटी-बड़ी शीशियाँ। पाताने की ओर एक कुर्सी पर नर्स बैठी उनकी एक-एक साँस को परख रही थी। दरवाजे के पास उदास नौकर उपस्थित था; कोई भी आज्ञा पाते ही इधर या उधर दौड़ने के लिए। पन्नालाल आँखें बन्द किये पड़े थे। मानों भपकी ले रहे हों। उनकी हाथी-सी देह बिलकुल गल गई थी, चेहरा निस्तेज और भयप्रद हो गया था।

“मोती !”—एकाएक करवट बदलकर उन्होंने धीरे से आवाज दी। नर्स बढ़ी उनकी ओर।

“कहिये ?”—धीरे से उसने उनकी इच्छा की जिज्ञासा की।

“मोतीलाल कहाँ हैं ?”—मोतीलाल पन्नालाल के साले का नाम था।

“वह तो ‘उसे’ बुलाने गये हैं न, आप ही ने तो परसों उन्हें नैनीताल भेजा था।”

“मैंने भेजा था ?”—किञ्चित् आश्चर्य से पन्नालाल ने चित होने की चेष्टा करते हुए पूछा, “नहीं मेम साहब, मैंने नहीं भेजा था। भाड़ में जाय वह नालायक लड़का, मैं उसे क्यों बुलवाने लगा। आप क्या समझती हैं कि मैं उसको अपनी सम्पत्ति का अधिकारी बनाऊँगा ? कदापि नहीं, कदापि नहीं। चोर लूट के ले जायँ मेरे तोड़ों को, आसामी खा जायँ खेतों को, सूद पर बहाये हुए तमाम रुपये डूब जायँ—आग लग जाय, नाश हो जाय, यह सब मुझको मंजूर है; मगर, उस पाजी को मैं एक पाई नहीं देना चाहता। एक भैंसी कौड़ी नहीं !”

नर्स ने इशारे से उनको शान्त होने को कहा।

“उफ !”—बेचैन होकर वह बोले, “अब मेरी ज़बान नहीं रुक सकती मेम साहब ! वह शान्त तो होगी ही, मगर अभी जब

मैं परम शान्ति की गोद में शान्ति-लाभ करूँगा। जीते जी यह पुत्र का कलक मेरे कलेजे के बाहर नहीं हो सकता। अरे मैं उसका बाप हूँ, मैंने जो कुछ कमाया-धमाया है, सब उसी के लिए तो। लोग और किसके लिए इतनी हाय-हाय करते हैं। मगर देखती हो, उसने कैसा तिरस्कार किया है मेरा। मैं मर रहा हूँ, वह मौज कर रहा है। कर्ज-पर-कर्ज लेकर मेरी गाढ़ी कमाई को स्वाहा कर रहा है। जब उसको मेरी सेवा और देख-रेख करनी थी तब वह बम्बई और नैनीताल के होटलों में वेश्याओं के साथ भोग-विलास कर रहा है। वह मेरा अपना है? आत्मज है? ना-ना, वह मेरा कोई नहीं है। वह मेरा पाप है, कलंक है।”

इसी समय उनकी पत्नी कमरे में आई—डबडबाई हुई। उन्हें देखते ही जैसे पन्नालाल पागल हो गये।

“उसकी माँ! हे उसकी माँ! तो अब उसका प्यार करो और उसी प्यार से अपने सर्वस्व का नाश करो! वह तुम्हारे माथे में क्या चमक रहा है? सिन्दूर! हा हा हा हा! क्या तुम अभी तक अपने को सोहागिन समझती हो? नहीं उसकी माँ! अब जैसे मेरा पुत्र मर गया वैसे ही तुम्हारा पति भी मर गया है। यह मेरी परछाहीं बातें कर रही है। मेरा तो बेड़ा गर्क हो गया है।”

मानिक की माँ फूट-फूटकर रोने लगी। नर्स उन्हें चुपाने को बड़ी, “आप यहाँ क्यों आई? क्या जान-बूझकर रोगी की तकलीफ बढ़ाइयेगा?”

“नहीं, नहीं,”—वह बेचारी बोली, “मैं तो यही कहने को आई थी कि वह आ गया है।”

“कौन आ गया है? मानिक! मानिक! अरे ज़रा मेरे आगे तो आ! ज़रा मैं तेरे विलासी बदन को तो बिलोक्कूँ। कहाँ है मेरे लाड़ले?”

मोतीलाल के पीछे मानिक कमरे में आया। नर्स इशारे से भीतर

आने को मना ही कर रही थी, पर वे आ ही गये। पन्नालाल की आँख पुत्र पर पड़ी, देखा लड़का दुबला हो गया है। आँखें धँस गई हैं। चेहरे पर की सरल सात्विकता का उत्साह गायब हो गया है। वह अधिक देर तक उसकी ओर न देख सके। उन्होंने आँखें बन्द कर लीं, और तर-तर आँसू बहाने लगे बच्चों की तरह।

मानिक भी उस नज्जारे को नहीं बरदाश्त कर सका। पिघल पड़ा। पिता के पाताने बैठकर सिसकने लगा। उस समय उस कमरे में जो-जो थे सब की आँखें भीग गईं। किसी के मुख से एक शब्द भी न निकल सका। मगर अधिक समय तक वह अवस्था न रह सकी। नौकर ने डाक्टर के आने की सूचना दी। नर्स ने फौरन सबको कमरे के बाहर जाने को कहा।

कमरे के बाहर आकर मानिक ने देखा दालान में हीरा के पिता एक मुच्छाड़िया—अधेड़-से—जवान के साथ खड़े थे। मानिक ने उन्हें प्रणाम किया।

“जीते रहो बेटा !”—हीरा के पिता ने कहा, “कब आये हो भैया ? ओह ! तुम्हारे बिना सारा घर अँधेरा हो गया था।”

मगर मानिक की नज़र उस दूसरे व्यक्ति पर थी। उसने हीरा के पिता से उसका परिचय पूछा।

“यही मेरे रामपुर वाले दामाद हैं बेटा !”—हीरा के पिता ने बताया, “बीस-पचीस दिनों से हीरा आई है न। मगर, यह उसे लिवाने के लिए अभी से आ गये हैं।”

“आप लोग इधर इस कोठरी में आकर बैठिये,”—मानिक ने कहा, “जरा डाक्टर देखकर चले जायँ तब पिता जी के पास भाइयेगा।”

“तुम इन्हें लिवा जाओ, बातें करो !”—हीरा के पिता ने उत्तर दिया, “मैं तबतक तुम्हारी माँ से बातें करता हूँ।”

हीरा के पति के नाम ही से मानिक के मन में अनेक भाव

उथल-पुथल कर उठे। उसने बार-बार उसके मुँह की ओर देखा। जैसे, हीरा ऐसी युवती के लिए यही वर था ? उसके मन में उससे अधिक बातें करने की लालसा नाचने लगी। वह जानना चाहता था कि हीरा उसको कैसी लगती है, उनमें कैसी पटती है। हीरा आई है, यह संवाद पाकर वह अपने पिता की सारी कष्ट-कथाओं को भूल-सा गया। वह बिलकुल उच्छङ्खल, उन्मत्त हो गया था।

दो-तीन दिनों तक मानिक और हीरा के पति मिलते और घुल-घुलकर बातें करते रहे। पिता की बीमारी और लोक-लाज की वजह से उन दिनों मानिक बराबर घर ही पर रहता। हीरा का घर तो सामने ही था। अतः अक्सर वे एक साथ ही, उसी सामने वाले बैठक में बैठकर दुनिया भर की बातें करते। एक दिन मानिक ने उससे पूछा—

“क्या विवाह हो जाने पर एक ही स्त्री से मन को सन्तोष हो जाता है ? मेरी तो शादी ही नहीं हुई है, पर मेरा विश्वास है, दिलदार आदमी के लिए एक क्या अनेक औरतें भी काफी नहीं होतीं। तुम अपना तजरबा बताओ।”

“मेरा तजरबा,”—वह बोला, “कोई नया नहीं। तुम्हारे मुहल्ले में मेरी दूसरी शादी हुई है; मगर, मुझे उससे सन्तोष नहीं। कुछ तो इसलिए कि बीबी रतनपुर की हैं; और क्रसम खाकर कह सकता हूँ कि मेरा अनुभव यहाँ वाली औरत का बहुत बुरा है। यहाँ का पानी ही कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि औरतें जल्दी काबू में नहीं आतीं। मैं भूँठ नहीं कहता, रामपुर के बाज़ार में घूमता हूँ।”

“हूँ....”—मानिक ने सोचते हुए पूछा, “कभी रतनपुर के बाज़ार में भी घूमे हो ?”

“नहीं तो,”—उसने उत्तर दिया, “यहाँ सकुशल कैसे घूम सकता हूँ। ससुराल है कि ठट्ठा। तुम्हारे पिता जी की हालत ठीक

नहीं, नहीं तो तुम्हीं से कहता कि एक दिन कहीं लिवा चलो।”

“अजी !” मानिक बोला, “पिता जी की मुझे वैसी चिन्ता नहीं। मैं उनकी क्या फिक्र करूँ। मैं डाक्टर नहीं, हकीम नहीं, वैद्य नहीं। जो डाक्टर या हकीम हैं वह उनकी फिक्र में लगे ही हैं।”

“तुमने देखा है यहाँ का बाज़ार।”

“ठीक तरह से नहीं। बाज़ार में जाकर नहीं। बारीचे में बुलाकर कुछ सूरतें देखी हैं जो दिलबस्तगी के लिए वैसी बुरी नहीं हैं। तुम यहाँ ससुराल होने से डरते हो, मैं बाप का घर होने से। मगर अब मुझे वैसा भय नहीं, अब मेरी हिम्मत खुल गई है। इस लाइन में सबसे जरूरी बात है हिम्मत का खुलना।”

“एक दिन चलो न।”

“हाँ, हाँ।”

“कब ?”

“आज ही...।”

“अरे तुम्हारे पिता...।”

“उहँ ! दो दिनों से उनकी हालत अच्छी है। मुझे उनकी चिन्ता नहीं। धीरे से साढ़े आठ बजे रात में चला जाय और दस-साढ़े-दस तक लौट आया जाय। कोई कुछ भी ताड़ न सकेगा।”

“मैंने सुना है,”—हीरा के पति ने कहा, “यहाँ जवाहर नाम की कोई बहुत मशहूर परी है, तुमने देखा है उसे ?”

“मैंने भी सुना ही है और यह भी सुना है कि उसके लिए अनेक आशिक-मिजाज तबाह हो गये हैं। उसकी बड़ी पूछ और फीस है। उसी के यहाँ चलोगे ?”

“मेरी तो यही राय है। मैं शिवरात्रि के एक दिन पहले यहाँ आया था। शिवरात्रि के दिन नर्मदेश्वर के मन्दिर में जब दर्शन

करने गया था तब उसकी भी एक भाँकी देखी थी। सच कहता हूँ यार, अजब है, ग़ज़ब है !”

“तब उसी के यहाँ चलो आज ।”

इस वार्तालाप के ठीक दूसरे दिन, सबेरे, शहर में जोरों से चर्चा फैली कि जवाहर के घर पर रतनपुर के महाजन लखरामदास के आवारे लड़के की पिस्तौल से एक युवक घायल होकर सरकारी अस्पताल में पड़ा है। लखरामदास के पुत्र ने भी शहर के बाहर नवाबी खँडहर में गोली मारकर आत्महत्या कर ली है !

जब दूसरे दिन पन्नालाल को उनकी व्यथित पत्नी ने यह संवाद सुनाया कि घायल होने वाला युवक उनका प्यारा मानिक है और मरने वाला हीरा का पति; तब पन्नालाल मारे पीड़ा और प्रताड़णा के तड़प-तड़पकर रह गये। उसी दिन सन्निपात ने उनकी जीवनी की इति कर दी। वह यही कहते-कहते मर गये कि—“डोम मेरी क्रिया करे, पर यह नालायक मानिक मेरी चिता या श्राद्ध में कदापि सहयोग न दे। यह मेरा बेटा नहीं, हत्यारा है, राक्षस है ।”

हीरा पूरी कठकरेजी है, ऐसी धारणा पास-पड़ोस की उन लुगाइयों के मन में हुई जिन्होंने उसके पति के मर जाने के बाद भी उस अभागिनी की आँखों को बाढ़ की नदी की तरह उमँगते न देखकर ताप के मरुस्थल की तरह शुष्क देखा था। उस दिन पड़ोसिनें, जब जवाहर के कोठे पर हीरा-पति के अपघात का संवाद पाकर दुनियादारी निवाहने के लिहाज से हीरा के घर पर आईं तब उन्होंने देखा कि वहाँ, चारों ओर, रोदन और स्यापा का साम्राज्य था। बाहर की बैठक में हीरा के पिता दुपट्टे में मुँह छिपाकर बच्चों की तरह रो रहे थे और घर में उसकी माँ प्राण छोड़-छोड़कर, माथा पटक-पटककर घिघिया रही थी। और वह हीरा ! वह चुपचाप, साँवले पत्थर की सुगढ़ी—पर, परम गम्भीर भाव की मूर्ति की तरह, अपनी माँ के पास खड़ी थी। उसके सर पर वस्त्र नहीं था, माँग में अभी तक लाल सुहाग चमक रहा था और कलाइयों की चूड़ियाँ तब-तब छोटी चिड़ियों-सी चहक उठती थीं जब-जब वह अपनी माँ को शान्त करने के लिए अपने हाथों को उसके माथे या मुँह के पास ले जाती। उसकी बेचारी माँ को इतनी याद कहाँ कि विधवा होते ही हिन्दू-लड़कियों के सोहाग-चिह्नों को उसी तरह उड़ा देना चाहिए जैसे सन्ध्या होते ही दिवा सुन्दरी के मुँह का उज्ज्वल-रंग उड़ जाता है। प्रथा-पुराण का यह पाठ पड़ोसिनों ही को मजे में याद रहा। वे आते ही पहले तो हीरा को अपने बीच में बैठाकर, उसके पति के सच-भूँठ गुणों को वर्णन कर, गला फाड़-फाड़कर रोने लगीं। इसके बाद उनमें से किसी बूढ़ी पुरखिन ने, अपने आँसुओं से हीरा का मस्तक और कपोल तर करते हुए उसके

माथे का सिन्दूर पोंछ डाला, फिर एक-एक कर उसकी होनों कलाईयों की अनुराग-मयी और नयी चूड़ियाँ तोड़ी गईं और फिर औरतों की एक पूरी मण्डली, हीरा को आगे कर, रोती-पीटती नीली-नदी नारायणी की ओर चली ।

और अब भी वह हीरा रोती नहीं थी । वह चुपचाप पड़ोसिनों और सम्बन्धिनियों की रोदन-रागिनी पर ताल की तरह चरण रखती हुई—करुण स्वप्न-लोक में विचरती हुई-सी—पथ पर चली जा रही थी । उसकी इस बाहरी कठोरता पर पड़ोसिनें मन-ही-मन क्या-क्या विचार कर रही थीं । उसे कठोर-हृदया समझती थीं, कुलटा भी और कभी-कभी एक दूसरे से यहाँ तक फुसफुसा उठतीं कि—ऐसी ही लड़कियाँ विधवा होती हैं, जिनकी आँखों में आँसू नहीं, हृदय में करुणा नहीं । ज़रूर यह अगले जन्म की राक्षसी है, इसी के अभाग्य ने इसके युवक पति को खा लिया है । मगर हीरा के मन में जो कोलाहल था उसे कौन देखता था ? कोई नहीं । यहाँ साधारणतः लोग ऊपरी भावों को देखकर हो भावुकता का मूल्य आँकने लगते हैं । किसी के तह तक पहुँचने की न तो जनसाधारण को फुर्सत होती है और न दिल ।

हीरा की उस अलौकिक स्तब्धता में जो रोदन छिपा था, जो खोलती हुई करुणा भरी थी वह इतनी वेगवती थी कि उसके एक ही ज्वार में सारे रतनपुर की लौकिक-आँसुओं की लुटिया झूब जाती; यदि वह अपने मनोगत भावों को बाहर होने देती । अपने सांसारिक पति की इस अचानक मृत्यु से जैसे उसके मुँह पर एक जबरदस्त थप्पड़ लगा । ऐसा थप्पड़ जिसके आघात से हृदय के मौन-तार तक, दूटे-स्वर में, बोल उठे । वह रोती नहीं थी ज़रूर, मगर बाहर से । यदि कोई उसके दिल में बैठकर देखता तो वहाँ निराशा, करुणा, पश्चात्ताप और आँसुओं के अनन्त और अथाह

समुद्र के सिवा और 'कुछ भी नहीं था । पति के मरने के बाद उसे एकाएक धक्का-सा लगा, कि हो-न-हो, उसी के अप्रेम के कारण उसके पति की आयु अल्प हो गई हो । नहीं तो यौवन के दिन-दोपहर में काली सन्ध्या के इस भीगे हुए अन्धकार की क्या आवश्यकता थी ? तो क्या मैंने अपने पति की हत्या की ?— वह सोचने लगी, मन के मर्मन्तिक कोलाहल से सहमती हुई— “नहीं तो ।” उसके हृदय से एक क्षीण और जर्जर स्वर निकला, उसे निर्दोष प्रमाणित करने को । मगर दूसरे ही क्षण भूतखाने की तरह उसके दिल में अनेक स्वर गूँज उठे—हाँ, हाँ; तूने ही अपने पति की हत्या की है । तू ही उसे, कर्तव्य होने पर भी, प्यार नहीं करती थी । तू ही उसका तिरस्कार करती थी, उससे घृणा करती थी । और तूने ही, व्याह हो जाने पर भी, किसी और ही की मूर्ति अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित कर रखी थी । तुझे छोड़कर उस बेचारे, रंगीले-जवान की हत्या करने वाला और कौन हो सकता है ? अभिशाप तू थी, वह जवाहर तो व्याधि मात्र थी । इशारा तेरा था, लखरामदास का नालायक लाड़ला तो सेनापति की आज्ञा पर अज्ञान में आग बरसाने वाला सिपाही मात्र था । हो !—हो ! हीरा, तू ही उस अभागे की हत्यारिणी है ।

हृदय के इस हाहाकार से हीरा, विलाप करती औरतों के आगे चलती हुई नारायणी-पथ में मन-ही-मन काँप उठी । उसकी आँखों के आगे दिन-दहाड़े अन्धकार का काला परदा फैलने लगा । पहले धूमिल, फिर कुछ गम्भीर और अन्त में काजल-काले रँग में हीरा की खुली-आँखें डूब गईं । उसने एक बार आँखों को मलकर उन्हें प्रकाशित करना चाहा, पर वह करुण-असफल रही । क्योंकि वह काला-पर्दा इन आँखों पर नहीं, बल्कि भीतर की उन आँखों पर था जिनसे ये आँखें उजाले-अंधेरे का अर्थ सीखती हैं । और उन आँखों तक इन हाथों की पहुँच कहाँ ?

एकाएक उस अकथ अन्धकार में हीरा को अनेक प्रभापूर्ण मानव-मूर्तियाँ चलती-फिरती, भाव-भंगी बनाती दिखाई पड़ने लगीं। हीरा उनका अभिप्राय समझने के लिए उन्हें गौर से देखने लगी। सब मूर्तियाँ एक ही रूप की थीं और सबका रूप हीरा के मृत-पति का चित्र था। मानों उसका पति भयानक मुँह बनाकर हीरा का परिहास कर रहा था। हाँ, हाँ वह बोल भी रहा था। हीरा ने सुना—साफ़, साफ़ ! उसने कहा—‘आँ हो, हीरा ! अब पता चला। अब मालूम हुआ कि तू मुझे क्यों नहीं प्यार करती थी, अब मैं तेरी जीवनी काले तख्ते पर लिखे वाक्य-समूहों की तरह पढ़ सकता हूँ, पढ़ रहा हूँ। क्योंकि, अब मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ; बला से दुरात्मा सही। और आत्मा शरीरियों के एक-एक भाव की हँसती-बोलती तस्वीर तक देख लेता है। हा हा हा हा ! सच हीरा, तू काँप मत ! तू बस उसी मानिक को प्यार कर जिसके लिए मेरा तिरस्कार करती थी। मैं ही न तेरे पथ का काँटा था ? ले, अब मैं दूर हूँ। तेरे अनुमान से नहीं हूँ। अब तुझे किसका डर है ? क्या फ़िक्र है ? अरी पति-घातिनी; अब तू जी भरकर खुल खेल !

और उसके पति की भयानक मूर्तियाँ, वीभत्स भाव से, हीरा का मुँह चिढ़ा-चिढ़ाकर, हो-हो-हो-हो कर उस काजल-काले अन्धकार-पट पर नाचने लगीं।

मानिकलाल और जवाहर की चोट गहरी नहीं थी, वे जल्द ही अस्पताल से अपने घरों पर चले आये । मृत बाबू पन्नालाल का श्राद्ध-कर्म तीन-चार दिनों तक उनकी पत्नी ने सँभाला, इसके बाद मानिक ने अन्त तक सारे श्राद्ध का सम्पादन किया । मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि मानिक के मन पर पिता की मृत्यु का आवश्यक से अधिक कुछ प्रभाव पड़ा; नहीं, बिलकुल नहीं । बल्कि, एक तरह से, वह अपनी प्रत्येक प्रकार की स्वाधीनता-प्राप्ति पर प्रसन्न ही हुआ । यह उसके आचरणों से स्पष्ट पता चलता है ।

जिस दिन बाबू पन्नालाल के श्राद्ध का तेरहवाँ अथवा अन्तिम दिन था उस दिन शाम को एक किराये की गाड़ी मानिक-लाल के दरवाजे पर आ खड़ी हुई । श्राद्ध में आये दर्जनो मेहमान अभी उपस्थित ही थे । सबने देखा, रतनपुर की विख्यात वेश्या कुन्दन अपने जागते जादू जवाहर के साथ गाड़ी से उतरकर, मेहमानों में बैठे मानिकलाल की ओर बढ़ी । मानिक स्वयं उठ खड़ा हुआ । बिलकुल लापवाही से कुर्सियाँ मँगाकर उन्हें बैठाया, पान-पत्ते को प्रेम से पूछा, प्रदान किया । और यह सब किया मुहल्ले के बड़े-बड़े स्वयंभू-समालोचकों और नाते के नाक सिकोड़नेवालों के आगे । कुन्दन ही की जुबानी—वह आई थी मानिक के पिता की मृत्यु पर मातम-पुर्सी करने । आने का अबरदस्त नाता और कारण था वह हत्याकाण्ड जिसमें हीरा का पति मारा गया, जवाहर-मानिक घायल हुए और हत्यारे ने अपनी जान भी दे दी । उस काण्ड ने अचानक-आवेश से मानिक को कुन्दन की ओर और कुन्दन को मानिक की ओर फेंक

दिया । अब कुन्दन मानिक को ताड़ गई थी—नया शौक्तीन ! वह उसे जवाहर के जाल में फाँसकर, पन्नालाल की गाड़ी कमाई पर हाथ फेरना चाहती थी । मातम-पुर्सी के लिए, गृहस्थ के घर, निखरी वेश्या कुन्दन के आने का असली कारण यह था ।

मगर मानिक के मूर्ख मन ने तो इस घटना में केवल जवाहर का मुँह देखा । देदीप्यमान, पूर्ण-यौवन, ललित-लावण्य—और उसके घर ! वह पागल और देख ही क्या सकता था । कोई सोचेगा पिता की मृत्यु ऐसी दुखद-घटना के तेरहवें दिन ही और छोटे-बड़े स्वजनों के आते ही मानिक का यह व्यवहार निर्लज्जता-पूर्ण था । यह आरोप बिलकुल ठीक है, क्योंकि, वह तो अपने पिता के सामने ही उनके शासन से डरते-डरते निर्लज्ज हो गया था । और जिसने एक बार अपने पिता के सामने निर्लज्जता कर ली वह अब उनके मर जाने पर सगे-सम्बन्धियों की कहाँ तक पर्वाह कर सकता है । मानिक, रिश्तेदारों के चेहरे पर का क्षोभ और घृणा देखकर, जवाहर के मुँह पर एक अजीब अवेश्यापन और अथोर आकर्षण देख रहा था । कुन्दन ने ताड़ा और उसके मुँह की गन्दी फुरियाँ फूल उठीं ।

उनके चले जाने पर मानिक की माँ ने उसे भीतर बुलवाया । घर में मुहल्ले की एक मुँह-चढ़ी बूढ़ी मानिक को देखकर, विरोध भाव से, जोर-जोर से कहने लगी, “धन्य है, तुम्हारा दिल भैया ! अभी मुख्तार साहब की आत्मा घर से निकली भी न होगी और जो नहीं होना चाहिए होने लगा ! वाहरे जमाना ! अरे हम लोग और हमारे बाप-दादे लोग भी जवान थे । मगर हमने आज के लाड़लों की तरह कभी सर पर बेशर्मी के आसमान को नहीं उठाया ।” बूढ़ी की बातों को मानिक मन-ही-मन घृणा से पी गया । यद्यपि उसे क्रोध आया पर वह बूढ़ी के सर पर न उतरकर उसकी माँ के आगे उतरा । सामने जाते ही भल्लाकर

बोला, “क्या बार-बार भीतर पुकारती हो ? बाहर भी आदमी हैं कि नहीं ?”

धीरे से सजल-रूप से मानिक की माँ ने कहा, “बेटा, अब तुम इस घर के मालिक हुए, अब तुम्हें इस तरह बात-बात में तिनगना शोभा नहीं देगा । अभी बाहर औरतें कौन आई थीं ?”

मानिक समझ गया । उसने साफ़-साफ़ जवाब दिया, “जो आई थीं उन्हें तुम जानती हो अम्माँ ! अब आगे कहो—कि अब वे यहाँ कभी न आवें, आवें भी तो मैं उन्हें धक्के दिलाकर निकलवा दिया करूँ । यही न तुम्हें कहना है ?”

माता रोने लगी, “तू मेरी सुनता ही नहीं । वे नहीं रहे तो क्या अब मुझे रुलावेगा ?”

“नहीं माँ ! तुम रोवो ही क्यों ? मैं क्या बुरा करता हूँ ? बाबू जी शराब नहीं पीते थे ? वे पैसे नहीं खर्चते थे ?”

“मगर वे……”—आनेवाली वेश्याओं को संकेत कर उसकी माँ बोली, “वे क्यों आई थीं ? हीरा का घर अँधेरा हो गया, तेरी जान जाते-जाते बची अभी और कुछ बाक़ी है ? बोल !”

मानिक चुप रहा, आँखें नीची किये ।

“बस, मेरा यही कहना है कि परमात्मा का दिया और तेरे पिता का जोड़ा धन तेरे खाने के लिए काफ़ी है । मगर, भले आदमियों की तरह । आवारों की तरह नष्ट करने के लिए तो कुबेर की सम्पत्ति भी काफ़ी नहीं । तुम्हें जो कुछ भी खाना-पीना हो, बच्चे ! घर पर, मेरी आँखों के आगे, खा-पी । इसमें मैं उझ करूँ तो मेरी ज़बान पकड़ । और उस डायन कुन्दन और उसकी मोहिनी जवाहर की बात भूल ! नहीं तो तू जरूर मुझे रुलावेगा, इस धुंधले बुढ़ापे में ।”

मानिक ने कहा, “बुरा न माने तो एक बात पूछ ! मेरा ब्याह भी होगा या नहीं ?”

दुःखिनी होने पर भी एक बार इस प्रश्न पर मानिक की माँ प्रसन्नता से सजग-सी हो उठी। उसकी आँखें ज़रा उज्ज्वल हो गईं—“क्यों नहीं होगा? तू ही तो सबसे बड़ा अड़ंगा है अपने व्याह में। यद्यपि इस साल व्याह नहीं होना चाहिए, तेरे पिता की वर्षी के बाद ही कोई शुभ-कर्म होना चाहिए, परन्तु, तू बाधा न दे तो मैं जल्द-से-जल्द तेरे व्याह की व्यवस्था करूँ। व्याह और तेरा—मैं ज़रा इशारा करूँ तो हज़ार-हज़ार लड़की वाले मेरी ड्योढ़ी पर खड़े होकर नाक रगड़ें।”

मानिक की माता गर्व से एक बार तन गई। “ठीक करूँ बेटा व्याह?”—उसने पूछा।

“तुम नहीं माँ, स्वयं मैं ठीक करूँगा। तुम्हीं कहती हो अब घर का मालिक मैं हूँ, तब मुझे ही अपनी शादी पक्की करने दो।”

“सुनूँ भी, किससे तू सम्बन्ध करना चाहता है?”

“तुम बिगड़ोगी।”

“बोल भी!”

“बिगड़ो मत माँ! अगर मेरा भला चाहती हो तो मुझे उसी से व्याह करने दो जो थोड़ी देर पहले बदनाम बूढ़ी कुन्दन के साथ आई थी। मैंने सुना है, मैं उसकी आँखों से पहचानता हूँ, वह कुन्दन-सी खानदानी वेश्या नहीं। वह किसी हिन्दू-गृहस्थ की सुकन्या है।”

मानिक की इस बात पर उसकी माँ दाँतोंतले अँगुली दाबकर उस ढीठ का मुँह ताकती रह गई।

कुन्दन ने जवाहर को लाख समझाया कि वह मानिकलाल से उसके बाप का माल ँंटे, मगर यह धोका-धड़ी का काम उससे न होता । मानिक ही नहीं, कुन्दन के कोठे पर आने वाले किसी भी युवक या ऐय्याश को जवाहर स्वयं नहीं ठगती थी । वह तो केवल गाती या कुन्दन के कथनानुसार वेश्याओं-सी कुछ बातें बना देती; मगर, मन-ही-मन लाज से लड़ती और हया से गड़ती हुई । इसीलिए पैसों के मामले में कुन्दन जवाहर का एतबार न करती । मनचलों को जवाहर के सामने बैठकर खुद ही बातों में फाँसती और फिर उन्हें उसके रूप-रंग पर उतारती । इसी तरह कुन्दन ने कम से कम गाहियों रईस घरों के लाड़लों को दोनों हाथों से लूट लिया । यद्यपि उस हत्याकाण्ड में पुलिस के हाथों से बचने में उसे अपनी गाँठ से चार-पाँच हजार रुपये खर्च करने पड़े, फिर भी, अभी उसके पास बहुत रुपये थे । अब उसे उस बरसाती काली रात की तरह रोटी और कपड़े और 'बुढ़ापा कैसे कटेगा' की फिक्र नहीं थी । मगर सन्तोष उसे नहीं था । वह और लूटना चाहती थी । जिस तरह वह नौजवान ठग कुन्दन की सम्पत्ति लूट ले गया था, वैसे ही वह शहर और बाहर के एक-एक नौजवान को लूट लेना चाहती थी ।

उसने जवाहर को समझाया कि मानिक आया करे तो वह उससे बहुत घुला-मिला न करे, तबतक, जबतक कि कोई अच्छी रकम हाथ में न आ जाय । वह विविध भावों से उस नवयुवक को अपन्नी और आकर्षित भी करती रहे; क्योंकि, ऐसा न करते रहने से अक्सर पंखी उड़ जाते हैं । मगर, अपने तन को उसकी हवा तक न लगाने दे । वह मानिक को देखकर इस तरह अंगड़ाई ले

गोया उसे गले से लगाना चाहती है; लेकिन ज्योंही मानिक उसके भूठे अर्थ को सच्चा समझे त्योंही वह सच को भूठ और भूठ को सच बनाकर उसे टरका दिया करे। पर एक-न-एक कर्मायश के साथ। कुन्दन चाहती थी कि जवाहर, मानिक के हाथों अपनी एक-एक मुस्कराहट कम-से-कम पाँच-पाँच सौ रुपये को बेंचे।

उस दिन मानिक आया। अकेले और दोपहर को। उसे देखते ही कुन्दन ने एकान्त में ले जाकर जवाहर को पाठ पढ़ाना शुरू किया—

“आज बगधी के लिए बोलना। अभी उसके पास जाकर मौन धारण कर, मुँह बिगाड़कर बैठना। जरूर ही वह सबब दरियाफ्त करेगा। पूछने पर बताना कि, किराये की गाड़ी पर चलने में शर्म मालूम होती है, और हम गरीबों के पास इतनी ताकत नहीं कि घोड़ा और गाड़ी को खरीदें भी और सँभालें भी। कहने को लख-लख-पती इसी कोठे पर आते हैं। कोई मुझे अपनी ‘जान’ कहता है, कोई ‘रूह’; मगर एक भी ऐसा दिलदार नहीं जो अपनी ‘जान’ या ‘रूह’ को पाँच सौ रुपये की एक गाड़ी और तीन-चार सौ का घोड़ा दे दे। दे कोई, तो हम इज्जत के लिए उपवास तक करें, मगर, घोड़ा-गाड़ी को बरकरार रखें, कभी न निकालें।”

मगर मानिक के आगे जवाहर का मुँह न खुला। वह भी, न जाने किस संयोग से, मानिक को मन-ही-मन कुछ पहचानने-सी लगी। मानिक की उच्छ्वलता में उसे अद्भुत आनन्द मिलता था। उसकी लापवाही को वह पूर्व-परिचित मित्र की तरह प्रेम से देखती। फिर, उस हत्याकाण्ड के बाद उसने मानिक के बारे में जो-जो बातें सुनीं उनसे वह और भी उसकी ओर खिंची। उसने कुन्दन ही से सुना वह शहर के मशहूर मुख्तार मुँशी पन्नालाल का लड़का है। वह कई लाख की संपत्ति का अधिकारी

है। वह पैसे को पैसा नहीं समझता और सोने को सोना नहीं। कुछ वैसी ही बातें जैसी जवाहर ने कभी अपने किसी परम निकटस्थ सम्बन्धी में देखी थीं।

उस दिन मानिक जवाहर से एकान्त में बातें करना चाहता था। इसीलिए घर से तैयार होकर आया था। मगर, वह कुन्दन की मतलबी-आँखों और चालाकी-भरी बातों से नफरत करता था। जवाहर को देखते ही जैसे उसके हृदय में प्रेम-भाव उठते थे वैसे ही कुन्दन के दर्शन होते ही वह एक तरह से सहम-सा जाता था। कुन्दन अपनी एक मतलबी, परखी, मुस्कान से सारे वातावरण को रण्डियाना कर देती थी। इसीलिए उस दिन किसी न किसी तरह वह उसको कुछ देर के लिए दूर हटाना चाहता था। इसके लिए उसने बहुत अच्छी युक्ति सोच रखी थी।

जब जवाहर उसके पास आकर बैठ गई और उसके लिए—कुन्दन की दुष्ट-हिदायतों को भूलकर—पान लगाने लगी, तब मानिक ने उससे कहा, “जवाहर बाई, आज मैं यहीं पर, इसी वक्त, शराब पीना चाहता हूँ।”

दरवाजे की आड़ में बिल्ली-सी खड़ी कुन्दन जवाहर के जवाब देने के पहले ही सामने आ रही और बिगड़कर बोली, “पिस्तौल भी लाये हो कि नहीं? दोपहर में शराब पीकर किसका खून करोगे? मुझ बुढ़ी पर तो नज़र नहीं है?”

“नहीं, नहीं कुन्दन बाई! तुम भी कहाँ की कौड़ी लाती हो। अरे मैं अपने घर में आज्ञादी से नहीं पी पाता इसलिए तुम्हारे घर चला आता हूँ। क्योंकि, आराम से, दोनों जहान को भूलकर, पीने की सुविधा जैसी यहाँ है वैसी इस समूचे रतनपुर में कहीं नहीं।”

जवाहर ने कहा, “शराब नहीं—माफ़ करो! मेरी बड़ी अम्माँ का घर कलवरिया नहीं है। न हम ऐसे व्यापारी ही हैं कि,

शराब के भरोसे भगवान को भूल बैठें। शराब नहीं। वह चाहे हज़ार अच्छी हो, नशीली हो, मगर वह शरीर से लेकर आत्मा तक का नाश करने वाली डायन है। उसी के फँस में मेरे बा...बा...।”

कुछ कहते-कहते वह रुक गई। मानिक ने देखा एकाएक कुछ सोचकर रुकने से जो मानसिक आघात लगा उससे उसकी आँखें सजल हो गईं। वह जवाहर के इस रुकने का कारण पूछना चाहता था, मगर पहला ज़रूरी काम उसने यही समझा कि कुन्दन किसी तरह टरकाई जाय।

“कुन्दन बाई !”—वह पुनः बोला, ज़रा बनकर—“तो मुझे शराब न मिलेगी ?”

“इस दोपहर में ? छिः ?”

“मैं मर जाऊँगा कुन्दन बाई !”

“पीकर मरने से न पीकर मरना अच्छा है।”

“ज्ञान मत बघारो, शराब मैंगाओ ! एक बातल जानी वाकर, काला-लेबिल।”

“अरे इस वक़्त कोन जायगा काला-लेबिल लेने ? यहाँ पर मुझे छोड़ और कोई नहीं है।”

“तो तुम्हीं ज़रा...।” संकोच का नाश करते हुए, जेब से निकालकर मानिक ने एक नोट बूढ़ी कुन्दन की ओर बढ़ाया। गृद्ध की तरह दिव्य-दृष्टि से कुन्दन ने नोट की ओर देखा; यह ताड़ने के लिए कि दस का है या पचास का। मगर मानिक के हाथ में नव्वरी नोट था—१०० का। कुन्दन ने तुरन्त ही उसे अपनी मुट्ठी में कर लिया। फिर बोली, “मुझे ही जाना पड़ेगा। तुम लोग ऐसे बदमाश हो कि एक बूढ़ी को बाज़ार तक दाढ़ाने में खुदा से भी नहीं डरते। अच्छा, मैं अभी आई।”—चलते-चलते कुछ सोचकर उसने जवाहर से कहा, “बेटी, मैं आती हूँ।

तबतक तू ऊपर जाकर धूप में सुखते हुए कपड़ों को समेटकर, तह कर, ट्रंक में रख दे।”—मानिक की ओर मुड़कर उसने धूर्तता से कहा, “माफ़ करना बाबू साहब, थोड़ी देर तक आपको अकेले ही बैठना होगा। नहीं, कहीं पानी पड़ने लगा तो मेरे और जवाहर के सारे कपड़े मिट्टी हो जायेंगे।”

मानिक ने मन-ही-मन कहा, “पहले तू टल भी इधर से—खूसट !”

जवाहर उठी, ऊपर जाकर कपड़े समेटने को। उधर कुन्दन के घर से बाहर होने की सूचना मानिक के कानों को मिली। दरवाजों के बन्द होने की आवाज आई। वह इतना ही तो चाहता था। उसने उठकर जवाहर का हाथ पकड़ लिया—

“बैठो, तुम्हारे ही लिए उस डायन को यहाँ से टरकाया है।”

“नहीं, नहीं। मुझे ऊपर जाकर कपड़े समेटने दीजिये। नहीं तो वह नाखुश होंगी। वह मेरी बड़ी अम्माँ हैं।”

“मैं बड़ी अम्माँ को खुश कर लूँगा, इसकी फिक्र तुम न करो, अरे हाथ छोड़कर क्यों भागना चाहती हो—हाँ। इधर—यहाँ।”

जबरदस्ती मानिक ने उसे अपने सामने तोशक पर बैठाया। उसके इस व्यवहार से जवाहर के कपोल अनुराग-रंजित हो गये।

मानिक ने स्पष्ट कहा, “जवाहर बाई, मैं तुमसे कुछ गम्भीर बातें करना चाहता हूँ। मेरी एक भी बात को मज्जाक या बाज्जारू भाँसा-पट्टी न समझना। मैं तुम्हें बाज्जार से हटाना चाहता हूँ।”

“क्यों—क्यों? मेरी बड़ी अम्माँ...।”—एकाएक कुछ न समझ कर जवाहर बोली।

“बड़ी अम्माँ चूल्हे में जायँ!”—मानिक ने कहा, “मैं जानता हूँ तुम कुन्दन की कोई नहीं। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम किसी भले घर की भागी या भगाई हुई बेवकूफ बेटी हो। मैंने स्टेशन वालों को एक बार तुम्हारे बारे में बातें करते सुना था।”

जवाहर चुप रही। मानिक की स्पष्ट बातें जैसे सीधे उसके मर्म तक पहुँचीं। धीरे-धीरे उसकी पूर्व-कहानी उसकी आँखों में घूमने लगी।

“इसीलिए,”—मानिक ने उसे चुप देखकर अपने व्याख्यान

को और भी तूल दिया, “मैं तुम्हें बाज़ार से अलग रखना चाहता हूँ। सच कहता हूँ जवाहर बाई, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।”

“मुझे नहीं,”—जवाहर ने कहा, “मेरे इस रूप को। ऐसा तो सभी कहते हैं।”

“मैं तुम्हें अपने घर की रानी बनाकर रखूँगा।”

“चलो, झूठ बोलना हम तुमसे कहीं अच्छा जानती हैं। मैं यूँ ही किस रानी से कम हूँ। अक्सर बड़े-बड़े महाराज...”—फिर संकोच ने उसका गला दबा दिया।

“अच्छा तुम कहाँ की रहने वाली हो? सच कहना। तुम्हें मेरे सर की कसम।”

“अपने सर की कसम क्यों देते हो?”

“क्योंकि, फिलहाल यही सबसे बड़ी चीज़ मेरे पास है और कसम के लिए बड़ी चीज़ ही का नाम लिया जाता है। तुम किस जाति की हो जवाहर बाई?”

“मैं रण्डी हूँ।”

मानिक ने झपटकर उसका मुँह अपने हाथ से बन्द कर दिया, “झूठ नहीं! मैंने पहले ही कहा मुझसे झूठ नहीं। मैं तुम्हें ठगने नहीं, आदर से अपनाने आया हूँ।”

अब जवाहर अपने को न छिपा सकी। धीरे-धीरे अपना सारा इतिहास उसने मानिक के सामने खोलकर रख दिया। उस कहानी के कहने में वह कई बार हिचकी, कई बार आँहें भरकर रह गई और अन्त में अपने पिता के पतन की गाथा समाप्त करते-करते, वह रोने लगी। मुंशीगंज से भागने के बाद उस दिन पहली ही बार, दिल खोलकर, किसी दूसरे को अपना रहस्य उसने दिखाया।

उधर मानिक ज्यों-ज्यों उसकी कहानी सुनता था त्यों-त्यों उस की पवित्रता को गले से लगा लेने के लिए व्याकुल होता था।

जवाहर के पिता का शराब के लिए पागल होना सुनकर वह बहुत देर तक माथा सिकोड़कर कुछ सोचता रहा। उसकी आँखों के सामने नारायणी-तट के पीपल के पास ऊधम मचाने वाला वह होशियार पागल घूमने लगा। वह मन-ही-मन सोचने लगा हो-न-हो वही इस अभागिनी का पिता हो। मगर, अब वह होगा कहाँ? उस वक्त जवाहर से उस पागल के बारे में मानिक ने कुछ भी नहीं कहा। उसकी सारी कहानी सुनकर वह बहुत देर तक उसे प्यार से सहलाता रहा, और बार-बार यही आग्रह करता रहा कि वह उसके घर चलकर उसकी स्त्री की तरह रहे।

“मगर,”—जवाहर ने कहा, “मुझे कौन तुम्हारी स्त्री मानेगा? पहले तो अम्माँ ही तुम्हारी, भाड़ू लेकर मारने दौड़ेंगी।”

“मेरी अम्माँ मुझे बहुत प्यार करती हैं! वह मेरे लिए कुछ भी सहन कर सकती हैं। उन्हें मैंने राज़ी भी कर लिया है। बस, अब तुम्हारी ही रज़ा की देर है। तुम चलो जवाहर, इस नरक के बाहर! मेरे घर को स्वर्ग बनाओ। बोलो, चलोगी?”

“नहीं, बड़ा अपमान होगा। बड़ी छीछाछेदर।”

“मैं अपनी जान देकर तुम्हारी इज्जत बचाऊँगा। कुछ मेरा भी एतबार करो।”

“आप सपने-सी बातें करते हैं।”

“तुम सपने में प्राण डाल सकती हो। अस्वीकार न करो जवाहर। मैं बहुत-बहुत ठाकरें खाकर एकबार फिर किनारे आया हूँ—और वह किनारा तुम हो। मैं प्रार्थना करता हूँ, कृपा करो, मुझे फिर भटकने और प्रवाह में बहने न दो।”

सच्चे अनुराग से जवाहर के कोमल चरण को अपने हाथ में लेकर मानिक उसकी अँगुलियाँ चिटखाने लगा। इस बार लाल होकर वह बाधा देने लगी। मगर उसने उसे न छोड़ा। वह किम्भक्ती हुई उलफ पड़ी, और थोड़ी देर में एक दूसरे की

भुजाओं में बे-सुध होकर कस गये ।

उसे चूमते हुए मानिक ने पूछा, “कब चलोगी ?” “जब ले चलो !”—कहकर जवाहर बच्चियों की तरह उमँगकर मानिक के हृदय से सट गई । इसी समय कुन्दन की कर्कश आवाज कमरे में सुनाई पड़ी—

“हाँ—यह बात है !”

मगर, अब कुन्दन से कोई घबराया नहीं । जवाहर भिन्न कर मानिक के बाहु-पाश से अलग होना अवश्य चाहती थी, पर मानिक ने उसे ऐसा नहीं करने दिया । वे उयों-के-त्यों रहे और कुन्दन रही उनके सामने खड़ी होकर धौंकनी-सी गरम साँसें लेती ।

“जरा गिलास और सोडा भी कुन्दन बाई !”—मानिक ने लापवाही से कहा ।

“चुप रहो !”—तड़पकर कुन्दन बोली, “बड़े शरीफ़ज़ादे बने हैं । अच्छा, अब धीरे से खिसकभर जाइये, मेरे घर से ।”

“क्यों, क्यों, कुन्दन बाई ? आखिर आज इतनी खफ़गी क्यों ?”

“यही करने के लिए मुझे टरकाया था ? और मैं इस हराम-ज़ादी को……।”

“बस कुन्दन !”—अब मानिक ने डाँटा उसे, “मुझे ही जो चाहो कह लो । जवाहर की ओर जवान न चलाना । क्योंकि वह तुम्हारी लड़की नहीं, रिश्तेदारिन नहीं, सगी नहीं ।”

“तो तुम्हारी वह कौन है ? दादी, नानी, चाची ! हँ हँ !—मुझे ही ऐसी पट्टी पढ़ाने चले हो । अरे बच्चू, मैंने तुम-जैसे छोक़रों को बना-बनाकर बिगाड़ डाला है ।”

“यह सच बात है ।”—हँसकर मानिक ने कहा । उसकी इस हँसी से कुन्दन और भी तिलमिला उठी ।

“अच्छा अब आप तशरीफ ले जाते हैं शरीफों की तरह या किसी और को बुलाना होगा ?”

“और को भी बुलाना होगा ।” —मानिक ने कहा, “एक बन्द गाड़ी वाले को, जो जवाहर को मेरे घर तक पहुँचा दे और जरूरत हो तो पुलिस वालों को भी, जो इसका इज्जतार ले लें कि आज से यह तुम्हारी कोई नहीं और मेरी सब कुछ है । अब इस घर से हम दोनों साथ ही जायेंगे ।”

कुन्दन ने जॉनीवाकर की बातल को जमीन पर तड़ से पटक दिया और मारे क्षोभ और लोभ के वह जोर-जोर से चिल्लाने लगी, “बाप रे बाप ! कोई दौड़ो ! कोई बचाओ ! यह आवारा ब्रोकरा मुझे लूटे लिये जा रहा है !”

हीरा फिर अपनी ससुराल न गई और न उस अभागिनी को वहाँवालों ने बुलवाया ही। पति की मृत्यु के बाद वह मारे दुखों और मार्मिक कष्टों के अर्ध-विक्षिप्त-सी हो गई। अब वह न वैसी हँस-मुख थी और न वाचाल। अब तो वह भीतरी ताप से सूखकर नारी का कंकाल मात्र रह गई थी।

मुहल्लेवाले कहते—क्योंकि, बिना कहे उनका पेट फूलता, “हीरा को भूत लगा है। है कोई भारी शैतान। पहले उसके पति की जान ली और अब इसकी ओर झुका है। तभी तो वह रात-रात भर जागती और चिल्लाती रहती है। कभी पुकारती है—“मुझे मारो मत ! मैं बिलकुल बे-कुसूर हूँ।” और कभी कहती है “मारो-मारो ! सारी खुराफातों की बुनियाद मैं ही हूँ।”

वह कभी दिन-दिन भर उपवास करती और बकती-भकती रहती; और कभी दो-दो दिनों तक उसके आँसुओं का तार न टूटता। उसके गरीब माता-पिता ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार, अनेक उपाय किये, डाक्टर-वैद्य से लेकर प्रेत-पूजक और ओम्नों तक की ड्योढ़ियाँ नापीं। पर, वह न अच्छी हुई, न हुई।

एक दिन उसे अपने दरवाजे पर गन्दे-बदन, बिखरे बाल, पगली-न्सी खड़ी देखकर, एक पड़ोसिन ने पूछा—

“मानिक के घर की ओर क्या देख रही है ? पन्नालाल के उठते ही उस घर से लज्जा भी उठ गई। सुना है कि नहीं ? वह यहाँ की उसी वेश्या से व्याह करने जा रहा है।”

हीरा इधर जैसे मानिक को भूल ही गई थी। उस दिन अचानक उसका नाम सुनकर उसे कुछ याद आ गई। उसने पड़ोसिन से पूछा—

“कौन वेश्या है वह ?”

“वही—वही—जिस डायन के कारण आज तू पगली हो गई है। वही जवाहर ! सुना है इसी महीने में दोनों की शादी होगी। वह न जाने कहाँ, न जाने कैसे शुद्ध की जायगी और तब मानिक के घर में उसका व्याह होगा। लड़के के मोह में पड़कर मानिक की माँ ने इस सम्बन्ध की स्वीकृति दे दी है। मगर इसमें न तो कोई मुहल्ले का शरीफ शामिल होगा और न कोई रिश्तेदार। हायरे ! डूब गई, इस नालायक मानिक के कारण, एक भले परिवार की लुटिया !”

पड़ोसिन तो इतनी बातें कहकर एक ओर चली गई और हीरा के हृदय पर स्मृति के आरे क्रूरता से चलने लगे। वह बचपन से अपना और मानिक का सम्बन्ध सोचने लगी। वे धूल के महल, वह धौल-धप्प, वह खुला तू-तू मैं-मैं और वह जीवन की निरर्थक मार्थकता ! वह उसे कितना प्यार करती थी। उसी के लिए तो उसने उसे नहीं प्यार किया जिसे प्यार करना उसका परम कर्तव्य था। ओह ! वह अब वेश्या को व्याहने जा रहा है। अरे ! यह संसार है या ठगालय ? यह जीवन है या धोखा ? यह प्रेम है या प्रपञ्च ?

और फिर उसकी आँखों के आगे वही काला परदा पड़ गया। फिर वे ही उजली मूर्ति यहाँ विकराल भाव से, उसका मुँह चिढ़ाने लगीं—“क्यों हीरा, यही तेरा प्रेमी है ? इसी के लिए तू मुझे फूटी आँखों से भी नहीं देखती थी ? हा हा हा हा ! डायन ! अब कर न प्यार अपने मानिक को ! अब मैं तेरे पथ में कहाँ हूँ ? अब जरा उस जवाहर से भिड़—जो मेरी हत्या-नाटिका की मुख्य नायिका है। अब तू रोती क्यों है ? प्रेम कर रे ! कुलटे !”

उस दिन हीरा रात भर तड़पती, रोती और बत्सविहीन गऊ

की तरह चिल्लाती रही। सुबह पड़ोसियों को नींद लगी—जब उसने कराहना बन्द किया।

और दिन खुलने पर सारे मुहल्ले ने आश्चर्य से सुना, हीरा का कहीं पता नहीं। चार बजे रात ही को वह नारायणी नहाने गई और तभी से अब तक घर न लौटी। सुबह से उसकी खोज हो रही है; मगर कुछ पता नहीं चलता !

मानिकलाल अब कई महीने से, सारे शहर में बदनाम होता हुआ भी, शरीफ हो गया है। वह अब न तो आवारे दोस्तों के साथ शहर की सुकैद-काली गलियों में चक्कर लगाता है और न पियक्कड़ों की दारू पीकर इधर-उधर लुच्चई करता है। मानिक की माँ नई पतोहू जवाहर की इस बात पर बहुत प्रसन्न है जो वह धीरे-धीरे मानिक को शराब से दूर कर रही है। अभी उसने शराब छोड़ दी हो सो बात नहीं है। वह पीता है और अपने बाप ही की तरह बे-नागा पीता है, मगर घर में—और जवाहर के हाथों से भरा हुआ प्याला। मानिक की माँ को अब कुछ दुःख होता है तो यह कि कभी-कभी मुहल्लेवाले और सगे-सम्बन्धी जवाहर के पूर्व जीवन और पन्नालाल के अच्छे खानदान को लेकर बड़ा मार्मिक ताना देते हैं। नहीं तो, परिवार में अब पूर्ण शान्ति है, जवाहर किसी भी कुलवधू से कम अपनी सास की सेवा नहीं करती। वह परिश्रम से तो मानों थकती ही नहीं। स्वयं दिन-दिन भर घर के काम में जुती रहती है और माता जी को दिये की बत्ती भी अपने हाथ से बढ़ाने-घटाने का कष्ट नहीं देती। सबके ऊपर, वह ऐसी मधुर-भाषिणी और प्रेम-मयी है, कि मुहल्लेवालों के लाख रोने-गाने पर भी मानिक की माँ उसे मामूली वेश्या मानने को तैयार नहीं। अब तो कभी-कभी अपनी बहू को वेश्या कहनेवालों पर वह मारे अभिमान के बिगड़ भी उठती है।

मानिक अब बड़े ध्यान से ज़मींदारी और बाबू पन्नालाल का लेन-देन का न्यापार देखता है। कज़ूल-खर्ची से बचता है। बाबू पन्नालाल की मृत्यु के पहले ही से गृहस्थी और आमदनी का

कारबार ठंडा हो चला था । जवाहर को प्राप्त कर लेने के बाद मानिक ने तुरन्त ही उस ओर नज़र की और थोड़े ही समय में कहाँ क्या कमजोरी है यह समझकर सारे कारबार को ठीक कर लिया ।

उस दिन रतनपुर के पास ही अपने एक गाँव में बह गया था वसूल-तहसील की व्यवस्था करने । वहाँ से लौटने में शाम हो गई—दिया लग गई । शहर में आने पर, रतनपुर के मशहूर दारू-खाने के पास उस दिन उसने असाधारण भीड़ देखी । कारण जानने के लिए जो निकट गया तो जो कुछ देखा उससे मारे प्रसन्नता के वह कण्टकित हो गया । उसने देखा वही नारायणी-तटवाला पागल दारू-खाने के दरवाजे पर, आँखें चढ़ाये और हाथ में डण्डा लिये बैठा है और एक भी पियक्कड़ को भीतर नहीं जाने देता । दारू-खाने का मालिक सारी तरकीबें कर हार गया; पुलिस तक को पुकारा—पर सब व्यर्थ । वह वहाँ से टलता ही नहीं । उसकी दारू के विरुद्ध बातें सुन-सुनकर सारे पियक्कड़ परीशान हो रहे थे कि इस चिरकुट-धारी को इतनी अक्रल और शराब के बारे में ऐसा सन्निकट ज्ञान हुआ कैसे ?

वह पागल डण्डा फटकार-फटकारकर कहता—“ए शराब को गले लगाने वाले ! बचो इससे । यह वह नशा है जो अच्छे-से-अच्छे इन्सान को शैतान की भट्टी में बरबस ले जाकर भोंक देता है । यह वह सनक है जिसमें आदमी अपने खानदान को, ईमान को और भगवान तक को भूल जाता है । यह भले आदमियों के पीने की चीज़ नहीं, यह शरारत का पानी है, सत्यानाश का प्रबल प्रवाह है ।”

‘और इस पर भी यदि कोई पियक्कड़ यह कहता कि—“मैं तो पीऊँगीगा ।” तो वह डण्डा तानकर ज़मीन पर पीटने लगता । “पी—आ ! पहले यह डण्डा तेरा खून पीयेगा, फिर

तुम्हें शराब नसीब होगी। इसी डण्डे से बारह भट्टियाँ बन्द करा चुका हूँ। सैकड़ों पियक्कड़ों से तोबा करा चुका हूँ। मुझे न तो लाल पगड़ी का डर है और न काली का। मैं सबसे ज्यादा इस शराब से डरता हूँ। इसी ने मुझे तबाह किया है। इसी ने मेरी इकलौती, ईमानदार बेटी को, इस भवसागर के न जाने किस घाट पर, न जाने किस हालत में बहा फेंका है। मैं शराब के नाम से भी घृणा करता हूँ।”

भीड़ हटाकर मानिक उस पागल के सामने आया, “कहो दादा मुझे पहचानते हो ?”

“तुम्हें-हो-हो-हो-हो ! तुम्हें ! कौन है ?”—पागल हँसा।

“एक दिन हमारी भेंट हुई थी—वहाँ—याद है ? नारायणी के तट पर—पीपल के नीचे।”

“ओ हो ! होगा तू परिचित। मुझे अपने परिचितों की याद नहीं। इस वक्त सारी दुनिया से मेरा परिचय है और किसी से भी नहीं। आखिर तू मेरा परिचित क्यों होना चाहता है ? मुझे फुसलाकर दारु पीयेगा ? शराबखाने में जाना चाहता है ? जा-जा ! देख तो, कैसा चालाक जान-पहचानी है। मारे डण्डों के !”

और वह तड़ातड़ डण्डा पीट चला ज़मीन पर। मगर मानिक हटा नहीं वहाँ से। वह सीधे उसके पास गया, उसका दाहिना हाथ पकड़ा और कहने लगा—“चलो, आज मेरे घर पर तुम्हारा न्योता है। आज मेरे घर चलो दादा।”

“और इन पागल-पियक्कड़ों को शराब पीने दूँ ? और इस मतलबी कलाल को लोगों को हलाल कर पैसे बनाने दूँ ? मैं नहीं जाता कहीं। मुझे कोई इस तरह न्योता ही नहीं देता। मैं यहीं ठीक हूँ।”

तमाशा देखते पियक्कड़ों में से कुछ ने कहा, “जाओ दादा !

बाबू जी के घर । हम भी यहाँ से जाते हैं, कसम खाकर, कि आज से शराब नहीं पीयेंगे । पीयें तो भगवान हमें नरक दे ।”

किसी तरह समझा-बुझाकर, गाड़ी में बैठाकर, मानिक उस पागल को अपने घर लाया और चुपके से बैठाकर भीतर गया । उस वक़्त जवाहर रसोई कर रही थी और मानिक की माँ उसकी सहायता । मानिक ने जवाहर से कहा—

“देखो ! आज मेरे एक बड़े पुराने जान-पहचानी फ़कीर एकाएक शहर में मिल गये हैं । मैं उन्हें लिवा लाया हूँ । वह ठहरेंगे नहीं; कहीं ठहरते ही नहीं । उन्होंने तो मुझ पर बड़ी कृपा की है जो यहाँ तक आ गये हैं । जो कुछ भी तैयार हो, जल्दी से परस दो—तुम्हीं को खिलाना भी पड़ेगा । जल्दी करो !”

थोड़ी देर में रसोई सिद्ध हो गई । मानिक को सूचना मिली । वह पागल बूढ़े को लेकर खाने के कमरे में गया । उसे वहाँ बैठाया और फिर बाहर आकर जवाहर से बोला कि बिना संकोच के, घूँघट खोलकर, वह उस फ़कीर को खाना खिलावे । इससे सबका मंगल होगा ।

पहले जवाहर हाथ में लोटा और गिलास लेकर उस कमरे में घुसी जिसमें वह पागल अकेले बैठा क्या जाने क्या-क्या बढ़बड़ा रहा था । आदृष्ट पाकर उसने जवाहर की ओर देखा और देखता ही देखता रह गया । मानो उसे देखते ही उसका सारा पागलपन काफ़ूर हो गया । वह कुछ सोचने लगा । उसने एक बार, दो बार, तीन बार अपनी आँखें साफ़ कीं, यह जानने के लिए कि वह भ्रम में तो नहीं है ।

इधर उस बूढ़े को देखकर जवाहर सर से पैर तक सन्न हो उठी । मजे में न पहचानकर भी जैसे उसने उसे कुछ-कुछ पहचाना । क्षण भर तो वह ऐसी चकित रही कि उसके हाथ का

भ्लास जमीन पर गिर पड़ा। वह रूप से उस कोठरी के बाहर आई। सामने मानिक खड़ा था। मुस्कराकर उसने पूछा—

“क्या है ? घबड़ाई क्यों ?”

“मैं उसके सामने नहीं जा सकती। मुझे डर लगता है। माता जी या तुम उसको भोजन करा दो।”

“नहीं जवा...!”—मानिक ने समझाया, फक्कीर सब कुछ समझ जाते हैं। तुम उसे खाना नहीं खिलाओगी तो हमारा अनिष्ट हो सकता है। डरती क्यों हो ? हम तो बाहर खड़े ही हैं। उठाओ थाली !”

जवाहर थाली लेकर पुनः भीतर गई। पागल ने फिर उसे देखा। वह ऐसा घबराया मानो अभी उठकर भाग जायगा। मगर फिर क्या जाने क्या सोचकर स्तब्ध रहा। उसने आँखें नीची कर लीं। जवाहर ने थाली उसके सामने कर दी। फक्कीर, खाने की कोई चीज हाथ में उठाकर उससे खेलने और तरतरतर रोने लगा। और इधर, जवाहर के आँसू भी फूट निकले।

जवाहर को रोते देख पागल फक्कीर अपने आवेग को अधिक न रोक सका। उठकर उसने काँपती और रोती जवाहर का हाथ पकड़ लिया, पूछा, “तू कौन है, जो मेरे रोने पर रोती है ? बोल—बोल !”

मैं ‘बचिया’ हूँ बाबा ! मुझे तुम पहचानते नहीं ? अब तुम बताओ कि, तुम केवल धोखा हो या मेरे बाबा ही हो ?”

और इसके बाद बाहर से मानिक ने और उसकी माँ ने देखा, वह पागल फक्कीर जवाहर को गले से लगाकर बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगा। जवाहर भी तीव्र-स्वर से बिलख उठी।

“यह कौन है रे !”—मानिक की माँ ने आश्चर्य से पूछा।

“यह भी मेरे एक पिता हैं माँ।”—मानिक ने प्रसन्नता से झलककर उत्तर दिया, “जवाहर इन्हीं के घर का प्रकाश थी।

यह मुंशीगंज के अच्छे जमींदार थे और विख्यात ठाकुर। मगर शराब की लत ने इन्हें तबाह कर दिया। यह अपनी सारी सम्पत्ति ढालकर पी गये और अन्त में यहाँ तक नौबत आई कि, लड़की घर से घबराकर भाग गई और आप स्वयं दीवाने हो गये। बहुत दिनों बाद दो बिछुड़े-सगे मिले हैं—आह ! ज़रा देखो माँ, वे किस तरह अपने हृदय का सारा प्रेम आँखों से निकाल रहे हैं !”

“तू बड़ा निर्दयी है,”—माँ ने सजल होकर कहा, “भला इन अभागों को इस तरह रूताने से लाभ ? इन्हें और तरहों से भी मिला सकता था।”

“नहीं माँ,”—गम्भीरता से मानिक ने कहा, “आँसुओं से भीगे हुए मिलन—व्यथित और व्यग्र, संसार में दर्शनीय होते हैं। इसीलिए मैंने इस नाटक को इस तरह से समाप्त किया है। और, अन्त में, आज मैं तेरे चरणों को छूकर कहता हूँ, अब मैं शराब को कभी छूँगा भी नहीं। जवाहर के मोतियों से आँसुओं की शपथ !”



















